मौलिक व्यवस्था का विचार

नरेन्द्र सिंह

आधुनिक युग में व्यक्ति के भौतिक विकास के कारण दुनिया का बहुत तेज गति से भूमण्डलीकरण हुआ है और अब हमें व्यवस्था भी भूमण्डलीकृत परिस्थितियों से समन्वय बनाने वाली ही निर्मित करनी चाहिए न कि उसमें व्यक्तिवाद और और वर्ग संघर्ष के अन्य विषयों को महत्व देने का स्थान होना चाहिए। समाज व्यवस्था के आधुनिकीकरण का मतलब अपने पूर्वजों का अपमान करना नहीं होता बल्कि यह तो उनके द्वारा प्रशस्त किए गए मार्ग का यथार्थ के अनुसार पुनर्निर्माण और विस्तार होता है। मेरे विचार से व्यवस्था के आधुनिकीकरण का विरोध करने का सबसे गलत ढंग यह है कि व्यक्ति यथार्थ के अनुसार सुविधा भोग तो चाहता है लेकिन स्थापित व्यवस्था की काल-वाह्य मान्यताओं से मुक्त नहीं होना चाहता!

इसी पुस्तक से।

प्रकाशक
मार्गदर्शक सामाजिक शोध संस्थान
रायपुर (छ.ग.)

'मौलिक व्यवस्था का विचार'

नरेन्द्र सिंह

समर्पण

आदरणीय बजरंग मुनि को

प्रकाशक
मार्गदर्शक सामाजिक शोध संस्थान
रायपुर (छ.ग.)

'मौलिक व्यवस्था का विचार'
नरेन्द्र रघुनाथ सिंह
ग्राम व पोस्ट – बनबोई
जिला – बुलन्दशहर, उ0प्र0
पिन कोड – 203408
मोबाईल नं0 – 9012432074
ई–मेल – jeevanpath111@gmail.com

कोपीराइट–लेखकाधीन

पुस्तक सज्जा–
प्रकाशन विभाग–मार्गदर्शक सामाजिक शोध संस्थान

प्रकाशक
मार्गदर्शक सामाजिक शोध संस्थान
विला–42, मारूति लाइफ स्टाईल, परमान्दनगर, कोटा रोड
रायपुर (छ.ग.) पिन–492001

मुद्रक–

मूल्य–

आभार

प्रस्तुत विषय के इस परिचय प्रबन्ध में अपने मार्गदर्शकों तथा सहयोगियों का नाम सम्मानपूर्वक उद्धृत करना मेरा उत्तरदायित्व है। क्योंकि मुझे नहीं लगता कि मार्गदर्शन तथा सहयोग के अभाव में मैं ऐसा जटिल कार्य कर सकता था! इस सामाजिक अनुसंधान में मैंने आदरणीय बजरंग मुनि जी से मार्गदर्शन पाया। मेरे दृष्टिकोण में बजरंग मुनि जी आधुनिक भारत में समाज विज्ञान के अनुसंधान की पराकाष्ठा हैं। समाज के परिप्रेक्ष्य में किसी भी अनुसंधान के तल से लेकर शीर्ष तक का कोई स्वरूप होता है तो इनके दृष्टिकोण उस स्वरूप की कसौटी सिद्ध होत हैं। मैने साहित्य सृजन कि कला आचार्य पंकज जी से सीखी। आचार्य पंकज जी भारतीय साहित्य, दर्शन और समाज व्यवस्था के विभिन्न वैश्विक सिद्धान्तों के अतुलनीय विश्लेषक हैं। आचार्य जी की साहित्य सृजन की क्षमता भी अतुलनीय और अनुपम है। इन दोनों से मुझे यथार्थ को समझने, उससे उत्पन्न धारणाओं का विश्लेषण करने तथा विचार के सृजन का ढंग समझने हेतु मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। इस विषय को समझने में मुझे अनेक–अनेक बार जिन लोगों ने सहयोग किया है उनमें मेरे बड़े भाई श्री ओमपाल सिंह जी, श्री घंश्याम जी, श्री अभ्युदय द्ववेदी जो, श्री सुरेश शर्मा जी, श्री प्रमोद केसरी जी, श्री प्रेमनाथ जी, श्री शुभेन्दु महापात्र जी, श्री ज्ञानेन्द्र आर्य जी और श्री रामवीर श्रेष्ठ जी का नाम मेरे लिए बहुत महत्वपूर्ण है। इस विषय के अनुसंधान में इन लोगों ने आवश्यकतानुसार मेरा मार्गदर्शन भी किया और मुझे वैचारिक तथा अन्य प्रकार का सहयोग भी दिया। लेकिन इस विषय के आधार पर हो सकने वाले किसी भी सामाजिक प्रतिक्रियावाद के प्रति केवल मैं ही उत्तरदायी हूँ। .....अन्ततः यह विषय समाज के सामने प्रस्तुत है। गुणी लोग इसका जैसा भी विश्लेषण करेगें मुझे स्वीकार होगा।

नरेन्द्र रघुनाथ सिंह

ग्राम व पोस्ट – बनबोई

जिला – बुलन्दशहर, उ0प्र0

पिन कोड – 203408

मोबाईल नं0 – 9012432074

ई–मेल – jeevanpath111@gmail.com

अनुक्रमणिका

भाग 1–लेखकीय दृष्टिकोण 1

क–यथार्थ की कसौटी पर दार्शनिकों के दृष्टिकोण 2

ख–मौलिक व्यवस्था का गुण धर्म 8

ग–व्यवस्था निर्माण हेतु सैद्धान्तिक परिवर्तन–यथार्थ की आवश्यकता 11

घ–सार्वजनिक व्यवस्था का परिप्रेक्ष्य और सनातन धर्म का दृष्टिकोण 12

ड.–भारत, दर्शन का देश 14

च–भविष्य में क्या? 16

भाग 2–मौलिक व्यवस्था का विचार 19

1–व्यक्ति के मूल (प्राकृतिक) अधिकार का परिप्रेक्ष्य और व्यक्तिकृत व्यवस्थाएं 21

2–व्यक्ति के मूल अधिकार का व्यवस्था क्रम एवं समाज तथा राज्य का स्वरूप 27

3–व्यक्ति 34

4–परिवार 35

5–गांव तथा शहरी मोहल्ला 37

6–जनपद अथवा जिला स्तर की व्यवस्था 38

7–प्रादेशिक स्तर की व्यवस्था 39

8–देश/राष्ट्र/राज्य स्तर की व्यवस्था 40

9–समाज अथवा विश्व 41

क– एक–जीवन की स्वतन्त्रता 44

ख– दो–स्वनिर्णय की स्वतन्त्रता 47

ग– तीन–अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता 49

घ– चार–सम्पत्ति की स्वतन्त्रता 50

10– विश्व की प्रचलित राज्य व्यवस्थाएं एवं उनके स्वरूप 51

क– एक–भारत की समाज आधारित राज्य व्यवस्था 52

ख– दो–संगठनात्मक धर्म आधारित राज्य का सिद्धान्त 57

ग– तीन–पूँजीवादी लोकतन्त्र का सिद्धान्त 61

घ– चार–मार्क्स का राज्य वादी समाज 67

11–द्वन्दात्मक भौतिकवाद और मार्क्स का समाजवाद 69

12–सम्प्रभुता का स्वरूप 74

13–भारत में कानून निमाण का प्रकार और सामाजिक परिदृश्य 76

14–समाज का परिप्रेक्ष्य और वैयक्तिक विधियां 84

15–समाज और लोक स्वराज्य 90

16–समान नागरिक संहिता–एक विमर्श 95

हमारे लिए जीवन ईश्वर का अनुदान है। हम इसे ईश्वर कृत सृष्टि को सहेजने के लिए जितना भी प्रयोग करते हैं वह ईश्वर की उपासना ही है। मैंने जीवन को सार्थक सिद्व करने का इससे उत्तम उपाय नहीं समझा है। मै ईश्वर से यह प्रार्थना करता हूँ कि वह मुझ पर यह अनुकम्पा बनाए रख कि मेरा जीवन सदैव इसी काम का बना रहे।....मै समाज में जब भी कहीं ऐसा होते हुए पाता हूँ तो मेरे मन को असीम सन्तोष प्राप्त होता है। मुझे आदरणीय बजरंग मुनि के सानिंध्य में समाज विज्ञान का अध्ययन करते हुए काफी वर्ष बीत गए। इस पाठशाला में मैंने नित नए सबक पढ़े और अनुभव किए। मेरे यह अनुभव भी मुझे इसी पाठशाला की देन है। इसी पाठशाला में मेरे छोटे भाई नरेन्द्र सिंह भी मेरे सहपाठी रहे हैं। हमने साथ मिलकर अनेक विषयों पर अध्ययन, चिन्तन, मन्थन किया है और निष्कर्ष भी प्राप्त किए हैं। इसी अध्ययन कार्य में भाई नरेन्द्र सिंह ने प्रस्तुत पुस्तक 'मौलिक व्यवस्था का विचार' की रचना की है। पुस्तक समाज व्यवस्था के कई पहलुओं पर स्पष्ट नजरिया प्रस्तुत करती है और मानव सभ्यता को ईश्वर की सृष्टि के प्रति उत्तरदायी सिद्व करते हुए एक सामयिक समाज व्यवस्था के निर्माण के लिए भी उद्वेलित करती है। मै ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह मेरे छोटे भाई को उनके कार्य प्रयोजन का समुचित फल प्रदान करे।

धन्यवाद!

अभ्युद्य द्विवेद्वी

म.नं.25/139 विवेकानन्द नगर
रीवा (मध्यप्रदेश)

समाज में सभी लोग परिस्थिति अनुसार इसकी व्यवस्थाओं का जिक्र करते रहते हैं कि यह गलत है और वह ठीक है। लेकिन मुझ पर नियति की यह अनुकम्पा रही है कि मुझे व्यवथा के गलत और ठीक पहलू को समझने के बहुत अधिक प्रयास नहीं करने पड़े। इसका कारण यह रहा कि मै अपना होश संभालने क साथ ही समाज विज्ञान के ऐसे पुरोधा की शरण में पहुँच गया कि वहाँ मुझे जीवन के उलझावों को समझने का मार्गदर्शन मिलता रहा और हमारे नगर में नियति का यह प्रसाद केवल मुझे ही प्राप्त नहीं है बल्कि इस प्रसाद को पाने की इच्छा रखने वाले हर व्यक्ति के लिए यह सहजता पर्वक उपलब्ध रहता है। इसका कारण यह है कि मै बजरंग मुनि के नगर का ही रहने वाला हूँ। हमारे नगर में देश भर से इस प्रसाद को पाने की इच्छा रखने वाले लोग आते रहे हैं। कई वर्ष पहले भाई नरेन्द्र सिंह भी इसी इच्छा से यहाँ आए थे। मेरे देखने में यह आया कि य जब भी हमारे नगर में आए तो अपना अधिकांश समय अध्ययन, मनन और लेखन में ही लगाते रहे हैं। इनकी दिनचर्या को देखकर मैने यह समझा है कि इनकी जीवन प्रणाली एक प्रकार की अध्ययन प्रणाली ही है इसी आधार पर ये अनुभव करते हैं। मैने जिज्ञासा वश इनके लिखे को हमेशा पढ़ने का प्रयास किया। इनकी इस पुस्तक के विषय में भी मेरी यही इच्छा रही और इसे लिखने के साथ मैंने इसकी पाण्डुलिपि का ही अध्ययन कर लिया। मेरी नजर में यह पुस्तक भविष्य की समाज व्यवस्था के निर्माण के लिए बहुत उपयोगी सिद्व होगी। ईश्वर से मेरी प्रार्थना है कि वह इन्हें इनके प्रयास का फल दे।

धन्यवाद!

प्रमोद केशरी
वार्ड क्र. 15, पावर हाउस रोड, रामानुजगंज
जिला–बलरामपुर–रामानुजगंज (छ.ग.)
पिन–497220

यह लोकवाणी है कि सृष्टि में ईश्वर ने हर विषय वस्तु की भूमिका नियत की है। जैसे आंख का कार्य देखना है और कान का सुनना। लेकिन आंख के देखने का मूल्यांकन उस दृष्टिकोण पर आधारित होता है जिसे देखने वाले का मष्तिस्क निर्धारित करता है। क्योंकि दृष्टिकोण के आधार पर ही विषय–वस्तु आचरण करती है और इस आचरण के आधार पर ही उसका व्यावहारिक चरित्र निर्मित होता है। इस दृष्टिकोण से देखें तो यह प्रक्रिया प्रत्येक व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण होती है लेकिन समाज की संरचना के अनुसार व्यवस्था के सन्दर्भ में किसी महत्वपूर्ण स्थान पर पदस्थ व्यक्ति का दृष्टिकोण बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है। क्योंकि ऐसे व्यक्ति का आचरण समाज को बहुत व्यापक स्तर पर प्रभावित करता है। यह समीक्षा यह दृष्टिकोण विकसित करती है कि समाज की व्यवस्था चलाने वाले व्यक्ति पर व्यवस्था बनाने वाले निकाय अर्थात समाज का नियन्त्रण होना ही चाहिए अन्यथा समाज की व्यवस्था चलाने वाला व्यक्ति या निकाय इसके सन्तुलन के लिए खतरा बन सकता है। सामान्यतया विश्व भर की समाज व्यवस्था के अनेक रूपों में बहुतायत पर यह दोष व्यवहार में घटित होता रहता है। मैंने जब प्रस्तुत पुस्तक का अध्ययन किया तो प्राकारांतर में इस प्रकरण को समझने का अवसर मिला।

जीवन प्रवाह समाज के आकार प्रकार को बदल देता है तो स्थापित व्यवस्था परिस्थितियों के अनुसार उसके प्रबन्धन के लिए पर्याप्त नहीं रह जाती हैं। ऐसी परिस्थिति में समाज तथा सरकार एक दूसरे से सन्तुष्ट नहीं हो पाते हैं। इस दशा में समाज में असन्तुलन बढ़ता है तो विचार दृष्टा समाज तथा व्यवस्था के सामने सामयिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। कई बार ऐसे दशष्टिकोण समाज में क्रान्ति का कारण बन जाते हैं। मार्गदर्शक सामाजिक शोध संस्थान के तत्वावधान में अध्ययनरत भाई नरेन्द्र सिंह कृत यह पुस्तक सामयिक सामाजिक क्रान्ति का ऐसा ही मार्ग प्रशस्त करती है। यह पुस्तक व्यक्ति के मौलिक अधिकार के महत्व तथा समाज में व्याप्त वर्चस्ववाद के दुष्प्रभाव के विषय को भी पारदर्शी ढंग से प्रस्तुत करती है। इसके अध्ययन से मेरी यह धारणा भी प्रबल हुई है कि प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक मानव सभ्यता ने व्यवस्था निर्माण के जितने भी सिद्धान्तों का विकास किया है सभी शक्ति केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त के आधार पर विकसित हुए हैं और इसका दुष्परिणाम समाज ने राज्य प्रदत गुलामी के रूप में भुगता है। प्रस्तुत पुस्तक के अध्ययन के परिणाम स्वरूप मैंने ऐसे कई प्रकरण समझे हैं। मै भाई नरेन्द्र सिंह के समाज विज्ञान के इस अध्ययन के लिए इन्हें बधाई देता हूँ और आम जनमानस इसका समुचित लाभ उठाए ऐसा समाज से आग्रह करता हूँ।

धन्यवाद!

शुभेन्दु महापात्र

हार्मोनी स्टूडियो कलिंग स्टूडियो मार्ग

भरतपुर, भुवनेश्वर (ओडिशा) पिन–751003

मैं ऐसे अनेक लोगों को जानता हूँ जो व्यक्ति के चरित्रपतन एवं बढ़ती अनैतिकता जैसे विषयों का शासन व्यवस्था के द्वारा समाधान चाहते हैं। शराबबंदी, वैश्यावृत्ति उन्मूलन, महिला सशक्तिकरण, पर्यावरण संरक्षण, जैसे अनेक मुद्दों पर भी अनेक लोग प्राथमिकता के आधार पर शासन व्यवस्था से कानून बनाने की अपेक्षा करते हैं जबकि समाज में हिंसा, कत्ल, बलात्कार, चोरी, डकैती, लूट, धोखादड़ी जैसे विषयों पर उपयुक्त कानूनों के अभाव में समाज का वातावरण असन्तुलित है। प्रश्न यह है कि समाज में किस पहलू की व्यवस्था प्राथमिकता के आधार पर सुदृढ़ बनायी जानी चाहिए? समाज यह भी समझे कि समाज व्यवस्था में शासन व्यवस्था का आवश्यकता से अधिक दखल जीवन के नैसर्गिक प्रवाह को अवरूद्ध करता है।.... लेकिन समाज के परिप्रेक्ष्य में चिंता का विषय यह है कि समाज में अनेक लोग या तो शासन व्यवस्था से ऐसा करने की अपेक्षा करते हैं या उसके द्वारा एसा करने को उचित ठहराते हैं। कमोवेश मैं भी इसी नजरिए का व्यक्ति रहा हूँ।

नियति ने मेरी इस सोच पर एक विराम तब लगाया जब एक बार मुझे श्रद्धेय बजरंग मुनि जी से संवाद का अवसर मिला। एक मौलिक विचारक कैसा होता है मुझे उनके सानिंध्य में बैठकर इसका एहसास हुआ। तब मुझ समाज की मौलिक संरचना, व्यक्ति के मौलिक अधिकार का आधारभूत ढाँचा, सम्प्रभुता का अस्तित्व, समान नागरिक संहिता इत्यादि विषयों अर्थात समाज व्यवस्था का ऐसा कोई आयाम बाकी नजर नहीं आया जिस पर व्यक्ति के रूप में जीवित इस संस्थान की पारदर्शी दृष्टि न पड़ी हो!..... नियति द्वारा प्रदत इस महाप्रसाद को पाकर मैं गदगद था। लेकिन एक कालान्तर बाद मुझे यह चिंता हुई कि इस अनूठे बीज तत्व को संजोया कैसे जाए कि यह समाज के प्रांगण को अपने सर्वोचित उत्पादन से लक–दक कर दे। लेकिन जिस बंदोबस्त को नियति करती है उस पर प्रश्न उठाने की गुंजाइश नहीं होती। इसी जीवित संस्थान के सानिंध्य में मुझे भाई नरेंद्र सिंह कुछ अध्ययन करते हुए मिले। मैंने इनके सामने अपनी जिज्ञासा रखी तो इन्होंने मुझे प्रस्तुत पुस्तक पढ़ने का सुझाव दिया। शुरू में मुझे इसका अध्ययन कुछ अरुचिकर लगा। लेकिन जब मैंने इसे समझना शुरू किया ता पाया कि समाज विज्ञान के इस महाअनुसंधान रूपी महावृक्ष पर ऐसे ही उपयोगी फल लगाने हैं। भाई नरेन्द्र सिंह ने इस पुस्तक की रचना व्यक्ति के मौलिक अधिकार के व्यवस्था निर्माण में महत्व को सिद्ध करने हेतु की है। इसमें इन्होंने हमें व्यवस्था निर्माण के सिद्धान्त, विश्वभर में प्रचलित व्यवस्था के विभिन्न प्रारूपों के गुण–दोष की समीक्षा करते हुए समाज की संरचना, इत्यादि विषयों तथा जीवन की स्वतन्त्रता को बहुत सरलता से समझाने का प्रयास किया है। मेरे विचार से समाज की वर्तमान स्थिति तथा भविष्य के सामाजिक प्रारूप को समझने एवं इसे एक व्यावहारिक आयाम देने के लिए निश्चित रूप से यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी। मैं भाई नरेंद्र सिंह के इस प्रयास के लिए इन्हें बधाई देता हूँ कि यह भविष्य में भी समाज को अपने प्रयासों से लाभान्वित करते रहें।

धन्यवाद!

ज्ञानेन्द्र आर्य

ग्राम व पोस्ट–भागीपुर, मिल्कीपुर

अयाध्या (उ0प्र0)

'लेखकीय दृष्टिकोण'

यह विषय सर्वविदित है कि समाज–व्यवस्थाओं के निर्माण के विषय में अनेक दार्शनिकों ने अनेक दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। लेकिन व्यवस्था निर्माण के सभी दृष्टिकोणों में यह समानता पायी जाती है कि यह सभी शक्ति–केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त के आधार पर विकसित हुए हैं। इस घटनाक्रम के प्रवृत्त होने का मुझे यह कारण समझ में आया है कि मानव सभ्यता के विकास के प्रारम्भिक काल में व्यवस्थाविहीन जीवन अराजकता और वर्चस्ववाद का शिकार हुआ होगा और तब इस अराजकता के उन्मूलन के लिए ही व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ होगा अर्थात ऐसी व्यवस्था के निर्माण के लिए ही व्यक्ति ने पहली बार केन्द्रीयकृत शक्ति के आधार पर व्यवस्था के निर्माण की परिकल्पना की होगी! मानव सभ्यता के विकास के प्रारम्भिक काल में मुझे व्यवस्था के ढांचे में शक्ति के संग्रह करने के विषय में इसके अतिरिक्त और कोई कारण समझ में नही आता है। मानव सभ्यता के इतिहास में अनेक प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाएं अपने निर्वाहकों की इच्छा से अपने सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक वर्चस्व के विस्तार के लिए उस शक्ति का दुरुपयोग भी करती रही होंगी जिसे उसने समाज व्यवस्था के संचालन के लिए संग्रहित किया होगा! इसी आधार पर वर्चस्ववाद की अवधारणा भी एक सिद्धान्त के रूप में स्थापित होती चली गयी होगी। इस आधुनिक काल में भी व्यवस्था के निर्वाहकों द्वारा शक्ति के दुरुपयोग का यह खेल चलता ही रहता है। वस्तुतः व्यवस्थाएं व्यक्ति के जीवन के यथार्थपरक नियोजन के लिए आवश्यक होती हैं लेकिन व्यक्ति ने इन्हें नियन्त्रण और वर्चस्व का उपकरण बनाकर गलती की है। एक अध्ययन के दृष्टिकोण से देखा जाए तो मानव सभ्यता के अनेक आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी इन परिस्थितियों की पुष्टि करते हुए प्रतीत होते हैं। यद्यपि व्यवस्था के तमाम दृष्टिकोण और उन्हें प्रस्तुत करने वाले दार्शनिकों को गलत या ठीक सिद्ध करना मेरा उद्देश्य नहीं है। मैं तो केवल व्यक्ति के जीवन तथा प्रकृति के समन्वय के लिए निर्मित व्यवस्थाओं तथा उनके सिद्धान्तों की यथार्थ के परिप्रेक्ष्य के अनुसार समीक्षा कर रहा हूँ। इस सन्दर्भ में मेरा यह स्पष्टीकरण है कि दुनिया के अनेक दार्शनिक सांसारिक व्यवस्था के इस दृष्टिकोण से विमुख ही रहे हैं कि मानव सभ्यता को संजोने वाली भौतिक व्यवस्थाएं सर्वकालिक नहीं होती बल्कि सभी व्यवस्थाएं देशकाल परिस्थिति के अनुसार काल–वाह्य हो जाती हैं। इसलिए व्यक्ति और समाज के सन्तुलित जीवन निर्वाह के लिए व्यवस्था को यथार्थ के अनुसार पुनर्निर्मित करना होता है। प्रस्तुत पुस्तक में मैंने व्यवस्था के इसी परिप्रेक्ष्य का स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है।

यथार्थ की कसौटी पर दाशर्निकों के दृष्टिकोण :–

विमर्श के इस परिप्रक्ष्य को समझने के लिए मैं कुछ ऐसे दार्शनिकों के जीवन दर्शन को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ जिन्हें अनेक लोग या तो अपने ईश्वर के रूप में स्वीकार करते हैं अथवा उसके संदेशवाहक के रूप में। इस समीक्षा के आरम्भ में ही मैं यह विशेष बात कह रहा हूँ कि मैं केवल व्यवस्था के स्वरूप तथा उसके दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने वाले महानुभावों को समीक्षा का आधार बना रहा हूँ आलोचना का नहीं और ऐसा भी इसलिए कि ऐसा किए बिना यह दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं होता है। इस सन्दर्भ में मैं सबसे पहले 'कृष्ण' के दृष्टिकोण का जिक्र कर रहा हूँ कि गीता में कृष्ण ने व्यवस्था के पुनर्निर्माण के विषय में यथार्थ के परिप्रेक्ष्य के महत्व को अत्यन्त सटीकता से स्पष्ट किया है। समाज–व्यवस्था के पुनर्निर्माण के विषय में उनका यह दृष्टिकोण सार्वदेशिक तथा सर्वकालिक महत्व का है कि समाज में देशकाल परिस्थिति के अनुसार

धर्म तथा उत्तर दायित्व निर्वहन की हानि होने पर अथवा व्यवस्था के काल–वाह्य हो जाने पर मैं इन्हें यथार्थ के अनुसार पुनर्निर्मित करता हूँ। वस्तुतः कृष्ण का यह कथन यह सिद्ध करता है कि अच्छी से अच्छी स्थापित व्यवस्था भी सर्वकालिक नहीं होती बल्कि वह देशकाल परिस्थिति के अनुसार काल–वाह्य हो जाती है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं। इसी के पुनर्निर्माण के लिए मुझे संसार में बार–बार आना होता है। यद्यपि यह बात ठीक है कि कृष्ण समाज में शक्ति केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त के अनुसार ही व्यवस्थाओं को स्थापित करने के पक्ष में थे न कि इनके सामाजिक विकेन्द्रीयकरण के पक्ष में! इस विषय में यह कहना ठीक रहेगा की कृष्ण जिस समाज तथा राज्य व्यवस्था के निर्माण की संकल्पना प्रस्तुत करते हैं उसमें शक्ति का केन्द्रीयकरण निश्चित ही होता है क्योंकि कृष्ण एक केन्द्रीयकृत राज्य के निर्माण के भी पक्षधर हैं तथा व्यक्तिकृत ईश्वरवाद के भी पक्षधर हैं! प्रस्तुत विमर्श में इस तथ्य का कहना भी उचित प्रतीत होता है कि अभी तक के लोक व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि व्यक्तिकृत ईश्वरवाद सृष्टि के निर्माण एवं संचालन के लिए शक्ति के भौतिक संग्रह को सर्वकालिक रूप से आवश्यक सिद्ध करता है जबकि प्रकृति अथवा प्राकृतिक जीवन प्रवाह किसी ऐसे सिद्धान्त का पालन नही करता है। जीवन के प्राकृतिक सिद्धान्त के अनुसार जीवन–सृजन शक्ति के नियोजन का प्रतीक है और विसर्जन (मृत्यु) शक्ति के विसर्जन का प्रतीक है। जीवन का यह क्रम भौतिक जीवन में शक्ति केन्द्रीयकरण को आवश्यक सिद्ध नहीं करता है। व्यक्ति ने अपना भौतिक वर्चस्व स्थापित करने के लिए आध्यात्मिकता के प्राकृतिक दर्शन को नकार दिया और इसे अपनी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति का साधन बनाकर जीवन और प्रकृति के समन्वय का मार्ग अवरूद्ध कर दिया। व्यक्ति के स्वार्थी स्वभाव को स्पष्ट करने के लिए यह कथन इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि व्यक्ति ने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए अनावश्यक शक्ति संग्रह और वर्चस्व की स्थापना के लिए भौतिक आध्यात्मिकता का समाज विरोधी और कुरूप सिद्धान्त गढ लिया है जिसे प्रगतिशील मनुष्य ने धर्म अर्थात ईश्वरकृत व्यवस्था का नाम दिया है। लेकिन मेरे अन्वेषण के अनुसार यह विषय साम्प्रदायिक संगठनवाद से ज्यादा और कुछ नहीं है। मुझे तमाम व्यक्तिकृत व्यवस्थाओं में यही दोष दिखाई देता है। यद्यपि 'कृष्ण' व्यवस्था को यथार्थ के अनुसार बनाने की बात कहकर व्यवस्था के मौलिक दर्शन की व्याख्या करते हैं लेकिन मेरी समीक्षा में वह शक्ति के सामाजिक विकेन्द्रीयकरण अर्थात व्यवस्था में जन सहभागिता का मार्ग प्रशस्त करते हुए प्रतीत नहीं होते हैं। वस्तुतः इस विषय में यह कहना ठीक रहेगा कि कृष्ण के काल तक मानव सभ्यता इतनी विकसित नही हो पायी थी कि वह व्यवस्थाओं को समाज केन्द्रित या समाज की सहभागिता से बनाने का प्रयास कर पाती! इसलिए समीक्षा के दृष्टिकोण से देखते हैं तो तब के कालखण्ड की व्यवस्था देशकाल परिस्थित के अनुसार ही निर्मित होती हुई प्रतीत होती हैं। कृष्ण के दृष्टिकोण का अध्ययन करने से मैं यह मार्गदर्शन अवश्य प्राप्त करता हूँ कि उन्होंने व्यवस्था के स्वरूप को कालान्तर के परिप्रेक्ष्य के अनुसार पुनर्निर्मित करने के लिए मानव सभ्यता का मार्गदर्शन अवश्य किया है।

इस परिप्रेक्ष्य में जब मैं इसा मसीह और मोहम्मद साहब के दृष्टिकोण का अध्ययन करता हूँ तो यह पाता हूँ कि इन दोनों दार्शनिकों के दृष्टिकोण व्यवस्थाओं का ऐसा मार्गदर्शन नही करते हैं जो कालान्तर में समाज के बदले हुए आकार–प्रकार का यथार्थ से समन्वय करने हेतु मार्गदर्शन कर सके! इन दोनों दार्शनिकों के विषय में इनके अनुयाईयों की यह मान्यता है कि ईसा मसीह ईश्वर के एकमात्र पुत्र हैं और मोहम्मद साहब दुनियां के लिए ईश्वर के अन्तिम संदेश वाहक। इन दोनों दार्शनिकों के विषय में ऐसे कथन इनकी अपनी–अपनी घोषणाएं हैं या यह इनके अनुयाईयों की मान्यताएं हैं यह मेरी समीक्षा का विषय नहीं है, क्योंकि यह विषय दुनियां भर में प्रचलित है और अनेक लोग इनके द्वारा व्यक्त विचारों को अपनी समाज व्यवस्था का आधार मानते

हैं इसलिए इन लोगों के अस्तित्व की यह पहचान अपने आप में एक जीवन दर्शन का रूप धारण कर लेती है। इनके अस्तित्व के विषय में व्यक्त यह धारणा यह सिद्ध करती है कि समाज के लिए इनके द्वारा प्रस्तुत दृष्टिकोण या संदेश, व्यवस्था का अन्तिम स्वरूप हैं। यही दृष्टिकोण व्यवस्था के निर्माण के प्राकृतिक सिद्धान्त की अवहेलना करता है। जबकि सच यह है कि कोई भी व्यवस्था कालजयी नहीं होती। इनके स्वरूप में देशकाल परिस्थिति के अनुसार बदलाव किया जाना अवश्यक होता है। अनेक बार व्यक्ति की ऐसी अतार्किक आध्यात्मिक अवधारणाएं सृष्टि नियंता ईश्वर को व्यक्तिकृत सिद्ध करने पर आमादा होती हुई प्रतीत होती हैं। इस आधार पर इन दार्शनिकों के दृष्टिकोण यथार्थ की कसौटी पर परखना आवश्यक हो जाता है। किसी व्यक्ति के विषय में समाज के पटल पर ऐसे दृष्टिकोण का स्थापित होना तार्किक सिद्ध नहीं हो सकता है कि कोई एक व्यक्ति ईश्वर का एकमात्र पुत्र है बल्कि इस परिप्रेक्ष्य में तो यह कहना उचित रहेगा कि सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर कृत है और सभी मनुष्य ईश्वर की संतति हैं। मेरे दृष्टिकोण में ईसा मसीह के विषय में कहा जाने वाला यह कथन एक आश्चर्यजनक मिथक है और यह जनसाधारण को अपने वैचारिक दृष्टिकोण के खूंटे से बांधे रखने का एक प्रयास भर प्रतीत होता है। यद्यपि ईसा मसीह के कालखण्ड के विषय में भी ऐसा कहा जा सकता है कि उस दौर में भी व्यक्ति प्रकृति के रहस्यों को आधुनिक युग जितना नहीं सुलझा पाया था और तब मानव सभ्यता के वैश्विक भूमण्डलीकरण का कोई खास प्रभाव नहीं था, इसलिए तब के सामाजिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार ईसा मसीह का दृष्टिकोण समयानुसार हो सकता है। लेकिन मेरा प्रश्न तो मानव सभ्यता के आधुनिक परिप्रेक्ष्य को लेकर है, जिसकी कसौटी पर उनका दृष्टिकोण खरा नहीं उतरता है।

दूसरी ओर मोहम्मद साहब के विषय में प्रस्तुत यह दृष्टिकोण भी कि वह ईश्वर के अन्तिम संदेश वाहक हैं, एक निष्ठुर मिथक ही प्रतीत होता है। वस्तुतः जब व्यवस्था के दर्शन की कसौटी पर ऐसे दृष्टिकोण रखे जाते हैं तो ये यथार्थपरक सिद्ध नहीं हो पाते हैं। क्योंकि इनमें से एक दार्शनिक का दृष्टिकोण समाज व्यवस्था को पैतृकवाद के सिद्धान्त के अनुसार प्रभावित करता है और दूसरा स्वयं को आध्यात्मिकता एवं समाज व्यवस्था के लिए एकेश्वरवादी ईश्वर के संदेशवाहक के रूप में अन्तिम निर्णायक सिद्ध करता है। यदि किन्ही दार्शनिकों के ऐसे आध्यात्मिक दृष्टिकोण यह सिद्ध करने का निरन्तर प्रयास करते हैं कि उनके द्वारा व्यक्त व्यक्ति के जीवन की आध्यात्मिक और भौतिक व्यवस्थाएं कालजयी हैं, सर्वकालिक हैं, इनमें यथार्थ की आवश्यकतानुसार भी कोई बदलाव न तो किया जा सकता है और न इसकी आवश्यकता होती है तो यह जीवन–प्रवाह के प्राकृतिक सिद्धान्त के विरुद्ध दृष्टिकोण हैं। वस्तुतः जीवन व्यतीत होने से जीवन सिद्ध होता है और यह प्राकृतिक नियम है कि काल–प्रवाह जीवन की दशा में बदलाव लाता है तो तमाम प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाओं के स्वरूप का बदला जाना भी आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः यह प्राकृतिक सिद्धान्त है और इसे कोई व्यक्तिकृत ईश्वरवादी सिद्धान्त नहीं बदल सकता है। इसलिए यह कहना उचित है कि व्यक्तिकृत व्यवस्थाएं देशकाल परिस्थिति के अनुसार निर्मित होनी चाहिए इन्हें सर्वकालिक मानना मानवीय भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है। समाज में संगठनात्मक धर्म, जाति तथा राज्य जैसी व्यवस्थाएं इसी श्रेणी में आती हैं। व्यक्ति को ऐसी गलती करने से बचना चाहिए। समाज व्यवस्था के निर्माण के विषय में इन दोनों महानुभावों के दृष्टिकोण किसी तदर्थ व्यवस्था के निर्माण के लिए तो उपयुक्त हो सकते हैं लेकिन जीवन निर्वहन की दशाएं समाज के आकार–प्रकार को बदल दती हैं। यह प्राकृतिक नियम है कि प्रकृति परिवर्तनशील है। इसलिए इन दोनों महानुभावों के दृष्टिकोण व्यवस्था के यथार्थ–दर्शन की कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं। क्योंकि जिस व्यवस्था में यथार्थ के अनुसार परिवर्तन नहीं किया जा सकता है उसका स्वरूप काल–वाह्य हो जाता है आर उसके व्यावहारिक दुष्प्रभाव से समाज का आधुनिक ढाँचा अस्त–व्यस्त

हो जाता है। विश्व की कुल आबादी में से आधी से अधिक आबादी इन दो दार्शनिकों के दृष्टिकोण को अपना जीवन दर्शन मानती है। क्या हमें समाज के यथार्थ की दशाओं के अनुसार समाज के प्रांगण से धामिक तथा जातीय वर्ग संघर्ष समाप्त करने के लिए व्यवस्था के यथार्थ दर्शन के अनुसार समाज व्यवस्था का पुनर्निर्माण करने का प्रयास नहीं करना चाहिए? क्योंकि संगठनात्मक धर्म और जातीयता की तुलना में मानवता का स्तर सर्वोच्च और आवश्यक होता है।

प्रस्तुत वैचारिक परिप्रेक्ष्य में मैं यह घोषणा भी करता हूँ कि मेरा कोई भी तर्क इस हेतु नहीं है कि इन दार्शनिकों ने मानव सभ्यता के परिप्रेक्ष्य में ऐसे दृष्टिकोण प्रस्तुत नहीं किए हैं जिनका मानवता ने लाभ न उठाया हो! मै ऐसा स्वीकार करता हूँ कि इनके द्वारा प्रस्तुत विचार प्रसाद मानवता के तात्कालिक उत्थान के बहुत काम आया है लेकिन मैं यह मानने के लिए बिल्कुल भी तैयार नहीं हूँ कि इनके तथा दुनिया के अन्य इस श्रेणी के तमाम दार्शनिकों द्वारा कही गई बातें समाज का अन्तिम सत्य हैं? ऐसा इसलिए है कि समाज–दर्शन प्रवाह मान विषय–वस्तु होती है और समाज की दशा के प्रवाह के अनुसार ही यह व्यवस्था के निर्माण के लिए व्यक्ति को प्रेरित करती है। यह सच है कि सृष्टि में जीवन–क्रम चिरस्थायी है लेकिन जीवन नहीं और सार्वजनिक व्यवस्था जीवन क्रम के लिए ही निर्मित होती है जीवन के लिए नहीं। इसलिए इसमें यथार्थ संगत बदलाव का होते रहना इसके स्थापना कर्ताओं का अपमान नहीं होता बल्कि यह इनके मार्गदर्शन का ही परिणाम होता है क्योंकि ऐसी व्यवस्था के निर्माण काल में हमारे उन मार्ग–दर्शकों ने भी ऐसी ही प्रक्रिया को अपनाया होता है। मेरे विचार से समुचित व्यवस्था उसे ही कहा जा सकता है जो हमारे जीवन–क्रम और जीवन के बीच सन्तुलन बना सके! इस विषय में एक दृष्टिकोण यह भी है कि जीवन के लिए व्यवस्था जड़ता का प्रतीक होती हैं क्योंकि यह कारण व्यक्ति को वर्चस्ववाद की स्थापना के लिए भी प्रेरित करता है जो कि बिल्कुल गलत है। व्यक्ति को व्यवस्था के ऐसे स्वरूप से स्वयं को स्वतन्त्र करना चाहिए और इनका निर्माण जीवन निर्वाह के लिए करना चाहिए न कि वर्ग संघर्ष के विषयों के प्रति अनावश्यक उत्तरदायित्वों के निर्वहन के लिए। इसलिए व्यवस्था जीवन का यथार्थ से समन्वय बनाने में सहायक होनी चाहिए न कि इस विषय का विरोध करने वाली होनी चाहिए। आधुनिक युग में व्यक्ति के भौतिक विकास के कारण दुनिया का बहुत तेज गति से भूमण्डलीकरण हुआ है और अब हमें व्यवस्था भी भूमण्डलीकृत परिस्थितियों से समन्वय बनाने वाली ही निर्मित करनी चाहिए न कि उसमें व्यक्तिवाद और और वर्ग संघर्ष के अन्य विषयों को महत्व देने का स्थान होना चाहिए। समाज व्यवस्था के आधुनिकीकरण का मतलब अपने पूर्वजों का अपमान करना नहीं होता बल्कि यह तो उनके द्वारा प्रशस्त किए गए मार्ग का यथार्थ के अनुसार पुनर्निर्माण और विस्तार होता है। मेरे विचार से व्यवस्था के आधुनिकीकरण का विरोध करने का सबसे गलत ढंग यह है कि व्यक्ति यथार्थ के अनुसार सुविधा भोग तो चाहता है लेकिन स्थापित व्यवस्था की काल–वाह्य मान्यताओं से मुक्त नहीं होना चाहता! यह तो व्यक्ति के बुद्धि तथा विवेक के सन्तुलन पर प्रश्न है कि क्या हमें जीवन में यथार्थ की कसौटी पर खरा उतरने के प्रयास नहीं करने चाहिए और क्या ऐसा उन लोगों ने नहीं किया जिनके व्यवस्था प्रबन्ध के अनुसार हम यथार्थ तक की जीवन यात्रा कर सके हैं? मानव सभ्यता के निरन्तर उत्कर्ष के लिए प्रयास जीवन, प्रकृति तथा दशाओं के बीच समन्वय बनाने का होना चाहिए, किसी वर्ग के अस्तित्व का नहीं। यही व्यवस्था के यथार्थ दर्शन का दृष्टिकोण है।

समाज की वर्तमान दशा को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत विषय सम्भवतः विभिन्न मत, पन्थ एवं सम्प्रदायों के ध्वजवाहकों एवं अनुयाईयों को स्वीकार न हों या सम्भवतः कोई सामाजिक विरोधाभाष उत्पन्न हो जाये! इस विषय में मेरा समाज से पुनः आग्रह है कि मेरी किसी भी व्यक्ति को वैचारिक या भावनात्मक रूप से न तो अपमानित करने की इच्छा है और न

मैं किसी को कोई पीड़ा पहुँचाना चाहता हूँ। प्रस्तुत विषय में समाज के ढाँचे की एवं इसकी व्यवस्था के विषय में विभिन्न दाशर्निको एवं मार्गदर्शकों की समीक्षा करने का यह कारण है कि समाज श्रद्धा, धर्म, जाति तथा अन्य ऐसे ही विषयों के आधार पर अत्यन्त रूप से वर्ग संघर्ष से ग्रसित है; समाज में समन्वय का भाव मृतप्राय स्थिति में है और ऐसा होने का कारण स्थापित सामाजिक व्यवस्था है। मैंने प्रस्तुत पुस्तक में यह तथ्य आदरपूर्वक स्वीकार किया है कि मैं समाज के असन्तुलित ढाँचे का कारण विभिन्न दाशर्निको एवं मार्गदर्शकों को नहीं मानता हूँ। उन्होंने अपने काल में समुचित व्यवस्था का निर्माण किया था लेकिन कालान्तर में समाज का स्वरूप बदला तो स्थापित व्यवस्थाएं अपर्याप्त होने लगी। मेरे विचार से विभिन्न सभ्यताओं के बीच संघर्ष होने का यही कारण है। व्यवस्था के पुनर्निर्माण का अर्थ अपने पूर्वजों के मार्गदर्शन का परित्याग नहीं होता बल्कि उनके द्वारा प्रदान किए गए जीवनक्रम को सन्तुलित रूप से निर्वाह करके उन्हें गौरवान्वित करना होता है। फिर भी यदि मेरे ऐसा लिखने से किसी को भावनात्मक ठेस पहुँचती है तो मैं क्षमा माँगता हूँ और जनसाधारण से यह आग्रह करता हूँ कि वह समाज के वृहत्तर स्वरूप के अनुसार व्यवस्था के यर्थाथप्रज्ञ ढाँचे का निर्माण करे।

मौलिक व्यवस्था का गुण–धर्मः–

प्रस्तुत विषय के अनुसंधान के समय मेरे मानस में यह प्रश्न बार–बार उत्पन्न हो रहा था कि एक मौलिक व्यवस्था का स्वरूप कैसा हो सकता है? जब मैंने इस विषय पर चिन्तन शुरू किया तो मेरे सामने सबसे पहला प्रश्न यह था कि ऐसा क्या कारण है जिसके आधार पर यह सिद्ध किया जा सके कि स्थापित व्यवस्था में मौलिकता का अभाव है और मैं यह किस आधार पर कह सकता हूँ कि धर्म, संस्कृति, जाति, समुदाय इत्यादि ऐसे परम्परागत विषयों के आधार पर निर्मित व्यवस्थाएं तथा लोकतन्त्र जैसी जन सहभागिता के आधार पर विकसित होने वाली व्यवस्था का स्वरूप भी क्योंकर मौलिक नहीं है? तब ऐसे अनेक प्रश्न मेरे मानस पर अस्तित्व पा रहे थे! वस्तुतः अपना तर्क सिद्ध करने के लिए मुझे इनके उत्तर खोजने थे। मैंने जब यह खोज शुरू की तो इस दौरान सबसे पहले मैंने पुनः यही समझा कि विश्व भर में विकसित व्यवस्था के सभी सिद्धान्त शक्ति केन्द्रीयकरण के आधार पर विकसित हुए हैं। व्यक्ति अपना जीवन व्यवस्थित करने के लिए जिस किसी भी व्यवस्था का सृजन करता रहा है उसका सैद्धान्तिक आधार शक्ति केन्द्रीयकरण ही रहा है और व्यवस्था का उलंघन जिन तौर तरीकों से किया जाता रहा है उनका आधार भी शक्ति केन्द्रीयकरण का सिद्धान्त हो रहा है। मानव सभ्यता के विकास की यह विभीत्स विडम्बना देखिए कि इसके दुख और कुरूपता के विस्तार का कारण भी शक्ति केन्द्रीयकरण का सिद्धान्त ही है और इसकी सुंदरता और सहनशीलता के विस्तार का कारण भी यही सिद्धान्त है। मुझे यह आश्चर्यजनक दुख है कि मानव सभ्यता का सम्पूर्ण विकास और विनाश इस एक सिद्धान्त की धुरी पर घूमता रहा है। इसमें अन्तर अथवा दूरी का कारण तो केवल व्यक्ति का विवेक रहा है कि जब व्यक्ति ने व्यवस्था के रूप में संग्रहित शक्ति का प्रयोग न्याय, सुरक्षा और सृजनशीलता के लिए किया है तो मानव सभ्यता विकसित हुई है और जब स्वार्थ के लिए किया है तब सभ्यता का पतन हुआ है। क्या व्यक्ति के पास ऐसा कोई वैचारिक उपकरण नहीं है जो व्यक्तिकृत व्यवस्था के इस अप्रत्याशित व्यवहार का उन्मूलन कर सके! क्योंकि यह तो निश्चित है कि जब तक व्यवस्था के स्वरूप का निर्माण इसके संचालक के विवेक पर निर्भर रहेगा तब तक व्यवस्था के स्वरूप पर शक्ति के केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त अथवा शासनकर्ता का ही शासन रहेगा और शक्ति केन्द्रीयकरण के आधार पर निर्मित व्यवस्था तो इस दोष से मुक्त हो ही नहीं सकती है। चाहे ऐसी व्यवस्था लोकतन्त्र के नाम से प्रवृत्त हुई हो या अन्य कोई भी हो! हाँ प्रस्तुत वैचारिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार यह तथ्य

स्पष्ट कर देना उचित है कि व्यवस्था संचालक के अच्छे या बुरे दृष्टिकोण के अनुसार व्यवस्था के प्रावधान समाज को प्रभावित कर सकते हैं लेकिन इनमें कोई खास सन्तुलन नही होता। इस परिस्थिति के लिए तात्कालिक भारतीय व्यवस्था तन्त्र का ढाँचा विश्व भर के लिए उदाहरण हैं। यहाँ पर ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब सत्ता केन्द्र में बैठा व्यक्ति स्थापित विधियों से ऊपर साबित हुआ है। सन 1975 में इंदिरा गांधी सरकार द्वारा लगाया गया आपातकाल इस विषय का उपयुक्त उदाहरण है।

अब यह प्रश्न पैदा होता है कि इस समस्या का हल क्या है? क्या शक्ति केन्द्रीयकरण का सिद्धान्त जिसकी उत्पत्ति का कारण यह भी सिद्ध होता है कि यह एक व्यक्ति को दूसरे के वर्चस्व से बचाने का सूत्र भी है और यह भी सिद्ध होता है कि यह व्यक्ति के वर्चस्ववादी स्वरूप के विस्तार का कारण भी है। दुनियां में इस विषय के अनेक उदाहरण हैं कि जब व्यक्ति का विवेक वर्चस्ववादी अवधारणा से ग्रसित हो जाता है तब व्यक्ति, समाज विरोधी संगठनवाद और संवेदनाहीन व्यक्तिवाद का विकास करता है और इनसे प्राप्त शक्ति के द्वारा प्रकृति के अनावश्यक भक्षण के कुत्सित प्रयास करता है। वैसे तो इस समस्या का हल बहुत साधारण है और यथार्थ तक का मानव सभ्यता का विकास तभी परिपूर्ण कहा जा सकता है जब मानव जाति इसे अपनी व्यवस्था के रूप में स्वीकार करे। अब मानव सभ्यता को व्यवस्था के शक्ति केन्द्रीयकरण के परिप्रेक्ष्य को बदलकर व्यवस्था के लिए शक्ति का नियोजन समाज के विभिन्न पायदानों में विकेन्द्रित कर देना चाहिए। यह कैसे हो सकेगा इस सम्पूर्ण विषय–क्रम की विवेचना मैंने प्रस्तुत पुस्तक में की है! आधुनिक जगत में समाज को व्यक्ति की व्यक्तिवादी तथा संगठनवादी उदण्डता से बचाने के लिए व्यवस्था का स्वरूप इस प्रकार निर्मित करना होगा जिसमें समाजकृत व्यवस्था की इकाइयों से कोई भी समाज विरोधी तत्व शक्तिशाली सिद्ध न हो पाए और न राज्य का स्वरूप एकीकृत रूप से इतना विस्तारित हो पाए कि यह स्वयं को समाज का शासक घोषित कर दे! इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यवस्था निर्माण का कारण यह सिद्ध करना होगा कि व्यक्ति के मूल अधिकार की रक्षा करना व्यवस्था का कार्य होता है। इस सिद्धान्त की विवेचना भी पुस्तक में की गई है।

प्रस्तुत पुस्तक के निष्कर्ष स्वरूप मैं यह कह पा रहा हूँ कि समाज व्यवस्था के निर्माण के विषय में और विशेषकर राज्य निर्माण के विषय में तो निश्चित रूप से शक्ति केन्द्रीयकरण का सिद्धान्त समाज के लिए उपयुक्त विषय नहीं है क्योंकि इसके आधार पर निर्मित व्यवस्थाएं या तो व्यक्तिवाद को बढ़ावा देती हैं या फिर संगठनवाद को। समाज के ढाँचे में इन दोनों गुणों के बढ़ने से समाज का सामाजिक स्वरूप ध्वस्त होता है। यद्यपि समाज में जीवन व्यतीत करते हुए ऐसी कई दशाएं उत्पन्न हो सकती हैं जब व्यक्तिवाद और संगठनवाद के दृष्टिकोण को भी उचित ठहराया जा सकता है लेकिन उस समय यह स्पष्ट होना चाहिए कि इन सिद्धान्तो के अनुसार कोई व्यक्ति या संगठन समाज के विरुद्ध अपने स्वार्थ तो पूरे नहीं कर रहा है! व्यवस्था के विषय में यथार्थ–दर्शन यह स्पष्ट करता है कि ऐसी परिस्थितियों के लिए किया गया शक्ति सृजन निमित्त उद्देश्य की प्राप्ति के साथ ही समाज में विलीन कर दिया जाना चाहिए। अन्यथा निर्धारित उद्देश्य की प्राप्ति के बाद किसी विशेष उद्देश्य प्राप्ति के लिए बना संगठन समाज के विरुद्ध ही संग्रहित शक्ति का प्रयोग करता है। समाज में धर्म, जाति, क्षेत्र, भाषा जैसे वर्ग संघर्ष के विषयों के आधार पर बनाए गए ऐसे संगठन अथवा तानाशाही के रूप में विकसित व्यक्तिवाद और संगठनवाद समाज के सामाजिक स्वरूप के विरुद्ध होते ही हैं। अतः समाज के इस वास्तविक स्वरूप को जीवित रखने के लिए हमें ऐसे अनावश्यक विषयों का उन्मूलन करने वाली व्यवस्था के निर्माण के प्रति सदैव तत्पर रहना चाहिए। एक मौलिक व्यवस्था का स्वरूप समाज का वह सामाजिक स्वरूप ही होता है जिसमें वर्चस्ववाद के लिए कोई स्थान नहीं होता, जिसमें समाज विरोधी व्यक्तिवाद और संगठनवाद का

प्रभाव नहीं होता और जिसमें व्यक्ति की उद्दण्डता और तानाशाही का विकास नहीं होता है। व्यक्ति के भौतिक जीवन और प्रकृति के बीच ऐसा समन्वय होना ही चाहिए कि व्यक्तिकृत विकास जीवन के अस्तित्व के लिए खतरा न बन जाए और यह उद्देश्य तभी प्राप्त किया जा सकता है जब व्यक्ति ऐसी समाज व्यवस्था का सृजन कर जिसमें वर्चस्ववाद का सर्वथा अभाव हो। प्रस्तुत व्यवस्था के ढाँचे में समाज के क्रिया–कलाप के निर्वहन के लिए शक्ति का नियोजन इस प्रकार होगा कि जिसके अनुसार व्यवस्था तो शक्तिशाली बनी रहेगी लेकिन उसे चलाने वाला व्यक्ति निरंकुश या शक्तिशाली नहीं बन पाएगा।

व्यवस्था निर्माण हेतु सैद्धान्तिक परिवर्तन–यथार्थ की आवश्यकता :–

प्रस्तुत पुस्तक के इस परिचयात्मक विमर्श में मै यह भी स्पष्ट कर रहा हूँ कि मैंने समाज–व्यवस्था के निर्माण के लिए शक्ति केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त का उन्मूलन किए जाने तथा व्यवस्था निर्माण के लिए शक्ति के सामाजिक नियोजन अथवा सामाजिक विकेन्द्रीयकरण अथवा प्रत्यक्ष जन सहभागिता या सहभागी लोकतन्त्र अथवा लोक स्वराज्य के आधार पर व्यवस्था निर्माण के दृष्टिकोण का विश्लेषण और समर्थन किया है। यहाँ पर व्यवस्था निर्माण के लिए सम्बोधित किए गए इन सभी शीर्षक–शब्दों का जिक्र मैंने इसलिए किया है कि मेरे विचार से समाज में जब भी इनमें से किसी एक शीर्षक के अन्तर्गत समाज–व्यवस्था के निर्माण का प्रयास होगा उसके द्वारा इन सब का मंतव्य भी पूरा हो जाएगा। क्योंकि व्यवस्था निर्माण के विषय में इन सभी शीर्षकों के अन्तर्गत ऐसे उद्देश्य प्राप्त करने वाली व्यवस्था का निर्माण सरलता से किया जा सकेगा जिसके अनुसार व्यक्ति, व्यवस्था, समाज और प्रकृति के बीच अधिकाधिक समन्वय स्थापित हो सकेगा तथा वर्चस्ववाद का उन्मूलन हो सकेगा। प्रस्तुत विषय के अनुसार समाज, व्यक्ति सहित अपनी सामाजिक संरचना की इकाइयों की इकाईगत सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा न्यायिक व्यवस्था बनाने के लिए, उसे नियन्त्रित एवं क्रियान्वित करने के लिए तथा अपने दायरे के बाहर के विषयों को समाज व्यवस्था के अपने से बड़े प्रारूप को सौंप कर समाज व्यवस्था के इस सहभागी प्रारूप को सिद्ध करेगा कि समाज में इकाईगत निरंकुशता के उन्मूलन तथा सामाजिक समन्वय के प्रति प्रतिबद्धता के लिए व्यक्ति तथा समाज उत्तरदायी हैं। वस्तुतः जब अनावश्यक या समाज के सामाजिक स्वरूप के विरुद्ध कार्य करने वाली व्यवस्था के जरिए समाज के प्राकृतिक जीवन प्रवाह को रोका जाता है तो जीवन, प्रकृति और यथार्थ के बीच समन्वय समाप्त हो जाता है। इस समस्या का समाधान यही है कि व्यक्ति तथा समाज, व्यवस्था के ऐसे प्रारूप की रचना करें जिसमें समाज की मौलिकता जीवित रहे अर्थात सामाजिक इकाइयों को इकाईगत विषय में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त रहे और वह समाज के वृहत्तर विषयों में वृहत्तर सामाजिक व्यवस्था के प्रति उत्तरदायी हो।

सार्वजनिक व्यवस्था का परिप्रेक्ष्य और सनातन धर्म का दृष्टिकोण :–

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने शक्ति के सामाजिक विकेन्द्रीयकरण की जो विवेचना की है उसके बारे में मैं यह बात भी कहना चाहता हूँ कि व्यवस्था के ऐसे स्वरूप के निर्माण का विचार केवल मेरे द्वारा सृजित नहीं है बल्कि इस विचार के परिप्रेक्ष्य को विस्तार देने में स्वामी दयानन्द सरस्वती, महात्मा गांधी, जयप्रकाश नारायण और बजरंग मुनि जैसे दार्शनिकों और मनीषियों का मौलिक योगदान तो है ही साथ में सनातन भारतीय चिन्तन धारा इस कार्य के लिए हमारा शास्वत मार्गदर्शन करती है। हाँ मैनें इन महानुभावों के दृष्टिकोणों से मार्गदर्शन अवश्य प्राप्त किया है। अलबत्ता इस विमर्श में इस परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करने हेतु मैं यह विवरण कह रहा हूँ कि ऐसा नहीं है कि भारतीय मानस समाज व्यवस्थाओं की संरचना के विषय में शक्ति केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त के विरुद्ध कोई

धारणा नहीं रखता रहा है। दुनियां के अनेक लोग इस विषय में अपने–अपने ढंग से सोचते हैं लेकिन इस परिप्रेक्ष्य में मेरी भी एक समीक्षा है। जैसे सामान्य भारतीय मानस के अनुसार सामाजिक व्यवस्था में धर्म का स्वरूप शक्ति केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त के विरुद्ध रहा है। इतिहास एसा प्रमाणित करता है कि भारत में जैन तथा बौद्ध धर्म के उदय के पहले तक धर्म का सामाजिक संगठनवाद से कोई सम्बन्ध नहीं रहा है और इतिहास इस विषय में भी साक्ष्य उपलब्ध कराता है कि जैन तथा बौद्ध धर्म के उदय होने पर भी सनातन धर्म के स्वरूप को मानने वाले लोग धर्म के प्रतिक्रियात्मक ध्रुवीकरण के प्रति उद्दात नहीं हुए बल्कि तब भी भारत के वैचारिक अनुसंधानकर्ताओं ने धर्म के संगठनवादी दुष्प्रभाव को रोकने के लिए तर्क शैली को ही विरोध का आधार बनाया। दूसरी ओर यह भी सच है कि समाज–व्यवस्था में जैन तथा बौद्ध धर्म के धार्मिक संगठनवाद ने कालान्तर में सनातन धर्म में आए दोषों का वैचारिक विरोध तो किया लेकिन इसके सांस्कृतिक उन्मूलन का प्रयास नहीं किया। इस घटनाक्रम का मुख्य लाभ यह रहा कि सनातन धर्म के अनुयाई धार्मिक संगठनवाद या साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण को अपनी जीवन पद्धति में अस्वीकार ही किए रहे।

सनातन धर्म के व्यावहारिक स्वरूप पर धार्मिक संगठनवाद का प्रभाव अनेक इस्लामिक आक्रमणकारियों के भारतीय संस्कृति के उन्मूलन के प्रयास से बढ़ना शुरू हुआ और फिर ईसाई मिशनरियों की कार्यप्रणाली के विरोध हेतु इसका स्वरूप अन्य धर्मों की तरह संगठनात्मक बनता चला गया। भारत में कालान्तर में इस्लाम, ईसाई तथा साम्यवाद द्वारा सनातन धर्म के उन्मूलन के प्रयास ने इसे अत्यधिक संगठनवादी तथा दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावाद की विचारधारा से प्रभावित किया है। इस घटनाक्रम के साथ इस सत्य की चर्चा बहुत कम होती है कि सनातन धर्म का मौलिक स्वरूप प्रतिक्रियात्मक रूप से साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के सिद्धान्त का विरोधी रहा है। इसका आधार यह है कि भारतीय चिन्तन धारा के अनुसार धर्म यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में किए जाने वाले सामाजिक अनुसंधान का एक रूप है न कि यह ईश्वर कृत अथवा किसी ईश–दूत द्वारा प्रसारित किसी सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप है। भारतीय दर्शन के अनुसार धर्म का स्वरूप देशकाल परिस्थिति एवं कर्ता के दायित्व निर्वहन का विषय है किसी स्थापित नियम संहिता का नियम नहीं, अर्थात इसका मौलिक सिद्धान्त व्यक्ति के विवेक तथा परिस्थिति के अनुसार उत्तरदायित्व निर्वहन को ही व्यक्ति का धर्म सिद्ध करता है। सनातन धर्म का वैचारिक आधार किसी एकेश्वरवादी सिद्धान्त अथवा ईश्वर कृत पुस्तक में भी निहित नहीं है बल्कि इस विषय की पुष्टि के लिए पुनः यही तर्क दिया जा सकता है कि यह तो देशकाल परिस्थिति के अनुसार व्यक्ति के दायित्व निर्वहन द्वारा सिद्ध होता है कि निष्पादित कार्य तो कर्ता का धर्म है! वस्तुतः जब इसके स्वरूप का वैचारिक नेतृत्व करने की बात आती है तो यह स्पष्ट है कि यह अनेक ऋषियों के सामाजिक अनुसंधान, समाज सुधारकों के कार्य तथा विचार–दृष्टाओं के यथार्थपरक दृष्टिकोण इसकी थातो हैं और यही इसका वैचारिक आधार भी है कि कोई एक दार्शनिक सनातन धर्म का प्रवर्तक नहीं है। वस्तुतः यह इसका अवगुण नहीं है बल्कि यह प्रक्रिया इसलिए इसका गुण है कि सनातन धर्म की यह प्रक्रिया अनावश्यक शक्ति–केन्द्रीयकरण का कारण ही उत्पन्न नही होने देती है। इसके अतिरिक्त यह धारणा भी सनातन धर्म का गुण ही है कि इसकी कोई निश्चित पूजा पद्धति नही है क्योंकि इस अवधारणा से ग्रसित व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय शीघ्र ही साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की ओर आकर्षित हो जाता है। वस्तुतः अनेक वर्षों से इसका यही गुण देशकाल परिस्थिति के अनुसार इसके वैचारिक प्रबन्ध का स्वरूप बनते आ रहा है। सनातन धर्म की एक यही शिक्षा व्यक्ति के मूल (प्राकृतिक) स्वरूप को जीवित रखने के लिए पर्याप्त है और यही कारण धर्म के आधार पर विकसित होने वाले धार्मिक संगठनवाद अथवा साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण को पनपने के अवसर नहीं देता है। वस्तुतः धर्म का सनातन स्वरूप जैन, बौद्ध, इस्लाम तथा ईसाई धर्म जैसी बन्द धार्मिक व्यवस्था का निर्माण नहीं

करता। भारत पर इस्लामिक आक्रमण से लेकर यथार्थ तक का इतिहास देखें तो क्या यह स्पष्ट नहीं होता है कि धर्म का साम्प्रदायिक स्वरूप व्यक्ति के सामाजिक स्वरूप का विरोधी ह? धार्मिक संगठनवाद या साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण को इतना महत्व देने वाले इस दौर में भी भारत के लोकमानस में धर्म की गुणवत्ता आज भी अनेक बार तब–तब ऐसी प्रतीत होती है जब–जब यह कहा जाता है कि हिन्दुओं की जीवन शैली में धार्मिक संगठनवाद का अभाव रहता है। वस्तुतः यह धारणा व्यक्ति के सामाजिक स्वरूप का आधार है और यही वैचारिक दृष्टिकोण व्यवस्थाओं के सामाजिक विकेन्द्रीयकरण का रास्ता भी खोल देता है। सनातन धर्म में संगठनवाद अथवा साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण का अभाव इसका गुण है अवगुण नहीं। दुनियां भर के सामाजिक नेतृत्वकर्ताओं को इसके इस गुण पर चिन्तन करना चाहिए और वैश्विक समाज के लिए धार्मिक कट्टरता के उन्मूलन का एक सार्वभौमिक वैचारिक आधार विकसित करना चाहिए।

भारत, दर्शन का देश :–

जैसा कि मैंने उपरोक्त लिखा है कि भारत में धर्म के स्वरूप का विस्तार दर्शन के आधार पर हुआ है। भारतीयों ने धर्म को धारणा के उस रूप में स्वीकार किया है कि जो देशकाल परिस्थिति की कसौटी पर खरी उतरे! दुनिया के किसी भी अन्य धर्म–दर्शन में इस दृष्टिकोण का कोई महत्व नहीं है; इसलिए ही दुनिया के अन्य सभी धर्म शक्ति के केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त के अनुसार संगठनात्मक जीवन शैली का विकास करते हैं। इस विषय को बिल्कुल स्पष्ट करने हेतु मैं यह तथ्य स्वीकार करता हूँ कि भारत संगठनात्मक धर्म का नहीं दर्शन का देश है। यही वैचारिक आधार है कि जिसके अनुसार भारत में जीवन संचरण की नई वैचारिक पद्धतियों और दृष्टिकोणों का विकास होता रहता है। भारत का आम जनमानस कभी भी वैचारिक शिथिलता में जीवन निर्वाह नहीं कर सकता है। इसलिए यहाँ धर्म का दृष्टिकोण भी संगठनात्मक नहीं बन पाया और इसी आधार पर भारत के लोगों ने धर्म को सनातन रूप में स्वीकार किया। भारत का व्यक्ति यथार्थ में रहने का चिन्तन करता है जिसके परिणामस्वरूप स्थापित मत–मतान्तरों तथा संस्कृतियों का उन्मूलन एवं नये दृष्टिकोणों का प्रादुर्भाव एक सामान्य प्रक्रिया है। इसी कारण से यहाँ एक दृष्टिकोण की स्थापना तथा उसके आधार पर विकसित संस्कृति को सभ्यता का चरमात्कर्ष मानने की परम्परा नहीं है। दूसरी ओर दुनिया में जो लोग ऐसा मानते हैं उनके लिए यथार्थ दर्शन का कोई महत्व नहीं हो सकता है और दुनिया में ऐसे लोगों के कारण ही सभ्यताओं के संघर्ष होते हैं। भारत की यथार्थ दर्शन के अनुसार जीवन निर्वाह करने को पद्धति विभिन्न सभ्यताओं के आपसी संघर्ष के उन्मूलन करने का सहज ढँग हो सकती है। मेरे विचार से पूरी दुनिया को इस दृष्टिकोण के आधार पर अपनी समाज व्यवस्था का ढाँचा विकसित करना चाहिए। वस्तुतः दुनिया के तकनीकी विकास और सामाजिक प्रसार के आधार पर विकसित होने वाले भूमण्डलीकरण का यह वैचारिक आधार है। इस विमर्श में यह प्रश्न भी पैदा होता है कि भारतीय जनमानस के जातीय वर्ग संघर्ष के उन्मूलन का क्या प्रकार हो सकता है? क्योंकि सनातन धर्म के अनुसार धार्मिक संगठनवाद का अभाव इसका गुण है तो इसमें निहित जातिवाद इसका घोर अवगुण है। क्योंकि जातिवाद व्यावहारिक जड़ता तथा अनावश्यक शक्ति संग्रह को बढ़ावा देता है। मैंने इस विषय को भी प्रस्तुत पुस्तक में स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

वस्तुतः दुनिया की कई धार्मिक संस्कृतियों तथा धर्म के नाम पर शक्ति संग्रह करने वाले लोगों क लिए यह परिहास का विषय रहा है कि धार्मिक तथा जातीय संगठनवाद के अभाव में मानव सभ्यता का विकास असम्भव है। लेकिन यह सच नहीं है बल्कि यह कारण तो मानव सभ्यता के विकास के लिए एक आदर्श दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। धार्मिक तथा अन्य समाज विरोधी

संगठनवाद के अभाव में ही समाज प्रकृति प्रदत्त मौलिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता का सोपान कर सकता है। आधुनिक युग में धार्मिक संगठनवाद मानव सभ्यता के मौलिक विकास का सबसे बड़ा विरोधी बन गया है। यह विशेष बात है कि भारतीय जनसाधारण की इस मौलिक अवधारणा का अनेक भारतीय संगठनात्मक धर्म जैसे जैन तथा बौद्ध धर्म तथा अनेक विदेशी जैसे ईसाई तथा इस्लाम जैसे संगठनात्मक धर्म भी उन्मूलन नहीं कर पाए! क्योंकि इसका सरल कारण यह है कि सनातन चिन्तन व्यक्ति की वैचारिक स्वतन्त्रता का उन्मूलन नहीं करता है जैसा कि संगठनात्मक धर्म कर देते हैं। इसलिए दुनिया के अन्य धर्मों के व्यवहार में धार्मिक संगठनवाद अथवा साम्प्रदायिकता के लक्षणों का अत्यन्त प्रभाव रहता है। आधुनिक मानव सभ्यता को धार्मिक संगठनवाद, जातिवाद अथवा जातीय श्रेष्ठता अथवा नस्लभेद, राष्ट्रवाद और अन्य सामाजिक वर्ग संघर्ष के विषयों का उन्मूलन करके व्यक्ति को समाज की प्राकृतिक इकाई मानकर व्यवस्था के स्वरूप का निर्माण करना चाहिए जैसा कि प्रस्तुत विषय में विस्तार से लिखा गया है कि व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार ही सभी प्रकार की व्यवस्था के निर्माण का कारण अथवा धुरी है। वस्तुतः शक्ति के सामाजिक विकेन्द्रीयकरण के आधार पर निर्मित व्यवस्था ही एक मौलिक व्यवस्था हो सकती है क्योंकि सामान्य जीवन इसी सिद्धान्त के अनुसार बनने वाली व्यवस्था के अनुसार निर्वाह होने पर ही वर्चस्ववाद से मुक्त हो सकता है

भविष्य में क्या....?

इस विषय के परिप्रेक्ष्य में मेरा यह आंकलन भी है कि मैंने समाज व्यवस्था के जिस दृष्टिकोण को उचित बताया है वह सर्वकालिक है; वस्तुतः मैं ऐसा नहीं मानता हूँ। प्रस्तुत विषय में उपरोक्त किए गए विश्लेषण के आधार पर कालान्तर में ऐसा हो सकता है कि लोक–स्वराज्य के सिद्धान्त के आधार पर निर्मित व्यवस्था अतिशय व्यक्तिवाद का शिकार हो जाए क्योंकि तब इस सिद्धान्त के अनुसार निर्मित व्यवस्था प्रणाली व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति को नियन्त्रित करने की पद्धति का उन्मूलन कर देगी, उस समय ऐसा हो सकता है कि व्यक्ति अतिशय स्वतन्त्रता प्राप्त करे और घोर व्यक्तिवाद का शिकार हो जाये। लेकिन इस तथ्य के परिप्रेक्ष्य में मुझे पुनः यही कहना हागा कि व्यवस्था के दर्शन के अनुसार किसी व्यवस्था प्रणाली के इन लक्षणों को गलत सिद्ध नहीं किया जा सकता है अर्थात व्यक्तिकृत व्यवस्था कभी कालजयी नहीं हो सकती है। इन्हें देशकाल परिस्थिति के अनुसार पुनर्निर्मित करना आवश्यक होता है तभी सन्तुलित जीवन निर्वाह किया जा सकता है। यदि भविष्य में ऐसा होता है तो तब के यथार्थ को स्थापित व्यक्तिकृत व्यवस्था के सिद्धान्त तथा स्वरूप दोनों की ही समीक्षा करनी चाहिए।

नरेन्द्र रघुनाथ सिंह

'मौलिक व्यवस्था का विचार'

यह विषय सर्वविदित है कि सृष्टि में केवल व्यक्ति ही ऐसा जीवधारी है जो जीवन संचरण के लिए भौतिक व्यवस्था का सृजन करता है; अन्य जीव–जगत तो प्राकृतिक व्यवस्था के अनुसार ही जीवन व्यतीत करता है। लेकिन प्रश्न तब पैदा होता है जब कोई व्यक्ति स्वयंकृत अथवा किसी व्यक्ति द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार निर्मित व्यवस्था को; भीड़ में से कुछ लोग पहले अपने लिए मौलिक व्यवस्था के रूप में स्वीकार करते हैं तदोपरांत उसे समाज की सार्वभौमिक एवं सर्वकालिक व्यवस्था घोषित करते हैं। ऐसी व्यवस्था का सबसे महत्वपूर्ण दोष यह होता है कि इसके नियामक तथा अनुयाई देशकाल परिस्थिति के अनुसार काल–वाह्य हो चुकी ऐसी व्यवस्था में कोई यथार्थपरक परिवर्तन भी नहीं करते हैं! समाज में व्यक्ति द्वारा सृजित ईश्वरवाद अथवा धार्मिक संगठनवाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद, राष्ट्रवाद एवं अनुवांशिक राज्य व्यवस्था के सिद्धान्त के आधार पर निर्मित व्यवस्था इसी श्रेणी की व्यवस्था होती है। मेरे विचार से भीड़ का यह कहना नितान्त अनावश्यक है कि ईश्वरवाद मौलिक–व्यवस्था का कोई स्वरूप होता है, व्यवस्था के किसी अन्य सिद्धान्त पर तो ऐसा चिन्तन करना ही व्यर्थ है। क्योंकि जीवन संचरण के लिए मौलिक व्यवस्था तो केवल वह प्राकृतिक परिवेश एवं प्रकार ही हो सकता है जिसका सृजन एवं पतन केवल प्राकृतिक होता है। लेकिन इस दशा में यह प्रश्न भी पैदा होता है कि तब व्यक्ति को प्रकृति प्रदत्त बौद्धिक सम्पदा एवं विवेक जैसे प्राकृतिक गुण का क्या महत्व रह जाएगा? मेरे विचार से सृष्टि में तमाम व्यक्तिकृत व्यवस्थाएं व्यक्ति के बुद्धि एवं विवेक के तालमेल का ही परिणाम होती हैं। व्यक्ति जब मानव सभ्यता के विकास एवं प्रबन्ध के लिए प्रकृति के प्रति उत्तरदायी व्यवस्थाओं का निर्माण करता है तो इन्हें ही मौलिक व्यवस्था कहा जाता है; लेकिन इस दशा में भी यह गम्भीर प्रश्न पैदा होता ह कि प्रकृति परिवर्तनशील है; इसके परिवेश में जीवन संचरण की दशाएं बदलती रहती हैं; इस कारण से सृष्टि में कोई सर्वकालिक व्यवस्था नहीं बनाई जा सकती है। मेरे विचार से तो ईश्वरवाद भी ऐसी व्यवस्था का सिद्धान्त नहीं हो सकता है! क्योंकि दुनिया का व्यावहारिक सच यह ह कि ईश्वरवाद ने भीड़ को अनेक मत,पन्थ एवं सम्प्रदायों में विभाजित किया है जो कि व्यक्ति का समाज के सामाजिक स्वरूप के विरुद्ध आचरण है। तब पुनः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मौलिक व्यवस्था क्या है? इस दशा में हमारे सामने तीन महत्वपूर्ण प्रश्न–सूचक दृष्टिकोण पैदा होते हं कि क्या प्रकृति के प्रति व्यक्ति का पूर्ण समर्पण अर्थात प्राकृतिक परिवेश के अनुसार जीवन निर्वाह करने की दशा को मौलिक व्यवस्था कहा जा सकता है? क्या जीवन की प्राकृतिक प्रणाली एवं भौतिक विकास का समन्वय मौलिक व्यवस्था हो सकती है अथवा क्या व्यक्ति के भौतिक विकास की प्रक्रियाओं को सहज बनाना ही मौलिक व्यवस्था है? समाज के विस्तार में व्याप्त परिस्थितियां इन तीनों ही प्रश्नों की अभिरक्षा करती हैं। क्योंकि यह सच है कि किसी भी प्राकृतिक व्यवस्था के स्वरूप को छिन्न–भिन्न करना अथवा उसे अपनी इच्छानुसार बदलना उचित नहीं हो सकता है अर्थात व्यक्ति का प्राकृतिक परिवेश के अनुसार जीवन निर्वाह करना ही मौलिक व्यवस्था है। दूसरे तथ्य के अनुसार आधुनिक युग में भौतिक विकास ही मानव सभ्यता की पहचान बन गया है तो व्यक्ति इसे ही मौलिक व्यवस्था कहने लगा है। लेकिन मेरे विचार से किसी भी विषय के प्रति अतिशय समर्पण तथा अतिशय प्रतिक्रिया के भाव का होना अनुचित कार्य प्रणाली होती है। क्योंकि भौतिक विकास की अनेक प्रक्रियाएं जीवन के सामयिक प्रबन्ध के लिए आवश्यक होती हैं तो इसकी अति प्रकृति के अस्तित्व के लिए हानिकारक होती है। इस स्थिति में जीवन की प्राकृतिक प्रणाली एवं भौतिक विकास की सामयिक प्रक्रियाओं के समन्वय के आधार पर ही व्यवस्था के ढाँचे का विकास होना चाहिए। किन्तु इस दशा में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसी व्यवस्था प्रणाली का विकास किस प्रकार हो? मेरे विचार से समाज में किसी भी व्यवस्था की स्थापना की दो मूल

अवधारणाएं हैं, समन्वय एवं नियन्त्रण। समाज–व्यवस्था के निर्माण के लिए 'समन्वय' पूरक अवधारणा है। क्योंकि इस अवधारणा के आधार पर बनने वाली व्यवस्था के ढाँचे में इसके प्रति इसका नियामक, संचालक, कार्यपालक एवं उपभोक्ता अपने अपने स्तर पर इसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। लेकिन आश्चर्य यह है कि दुनिया में कहीं पर भी समाज व्यवस्था का निर्माण या तो इस मूल अवधारणा के आधार पर हुआ ही नहीं है अथवा हुआ भी है तो बहुत आंशिक, अथवा इस विषय में मैं यह भी कहुँगा कि यह दृष्टिकोण केवल विचार–दृष्टाओं के विमर्श–कोश का ही हिस्सा रहा है। मेरे विचार से व्यवहार जगत की व्यवस्था में इसका सम्भवतः ही निवेश हुआ हो! व्यवस्था की दूसरी अवधारणा 'नियन्त्रण' है। दुनिया की लगभग सभी समाज तथा राज्य व्यवस्थाओं का विकास इसी मूल अवधारणा के आधार पर हुआ है। ऐसा होने का मूल कारण यह है कि व्यवस्थाओं के निर्माण के प्रति समाज की सामान्य समझ 'व्यक्ति' की उद्दण्डता पर नियन्त्रण करना होता है। लेकिन इस सिद्धान्त के अनुसार निर्मित व्यवस्था व्यक्ति की उद्दण्डता पर नियन्त्रण करते–करते कब इसकी स्वतन्त्रता पर नियन्त्रण कर लेती है सामान्य व्यक्ति को इसका पता भी नहीं चलता! दुनिया भर में इस अवधारणा के आधार पर निर्मित व्यवस्था का सबसे खतरनाक एवं असामाजिक स्वरूप यह है कि ऐसी व्यवस्था समाज को राज्य में निहित कर देती है अर्थात इस दशा में समाज के अस्तित्व एवं व्यक्ति की मौलिक स्वतन्त्रता पर राज्य का वर्चस्व स्थापित हो जाता है; जैसा कि वर्तमान दुनिया में हो रहा है। दुनिया भर में राजतन्त्र, धर्मतन्त्र, तानाशाही, साम्यवाद एवं लोकतन्त्र सहित व्यवस्था का ऐसा कोई प्रारूप नहीं है जिसने समाज पर अपना वर्चस्व सिद्ध न किया हो एवं न कर रहा हो! अर्थात ऐसी व्यवस्था का कोई मौलिक आधार हो ही नही सकता है। किसी मौलिक व्यवस्था की स्थापना के ऐसे सभी प्रयास तो केवल वर्चस्व की स्थापना के प्रकार होते हैं। किसी भी मौलिक व्यवस्था का प्रारूप तो केवल समन्वय की अवधारणा के आधार पर ही विकसित हो सकता है। यह प्रयास कैसे हो? आईए इस पर विचार करें–

व्यक्ति के मूल (प्राकृतिक) अधिकार का परिप्रेक्ष्य और व्यक्तिकृत व्यवस्थाएंः–

प्रकृति के प्रांगण में मानव जीवन की उत्पत्ति एवं इसमें विस्तार पायी हुई मानव सभ्यता के अस्तित्व पर जब भी मेरी नजर पडती है तो मन में बरबस ही यह विचार उत्पन्न होता है कि मनुष्य ही प्रकृति का नायक है, किन्तु अनेक मनुष्यकृत व्यवस्थाओं के क्रियान्वयन–स्वरुप आने वाले परिणाम मुझे ऐसा निश्चय करने से रोक देते हैं। मै मनुष्य जाति से इतर जब अन्य जीव–जगत को प्रकृति के सान्निध्य में जीवन निर्वाह करते हुए देखता हूँ तो यह सिद्ध पाता हूँ कि प्रकृति से समन्वय का आधार ही इनकी जीवन शैली है। मनुष्य जाति से अन्य जीवन–चक्र यह सिद्ध करते हं कि वे संग्रह विहीन हैं और प्रकृति के अस्तित्व को बिना नकुसान पहुँचाए अपने अस्तित्व को जी रहे हैं। लेकिन प्रकृति ने मनुष्य की उत्पत्ति करने में अपने सर्वश्रेष्ठ कौशल का प्रयोग किया है; क्योंकि इसने मनुष्य के अस्तित्व को विवेक एव संग्रह जैसे अतुलनीय गुणों से सुसज्जित किया है। प्रकृति, मनुष्य को अपने अनुदान परोसने में यही तक नही रूकी बल्कि इसने मनुष्य को इन गुणों के परस्पर समन्वय के लिए 'बुद्धि' के रूप में और भी अनमोल उपहार दिया है। लेकिन मनुष्य जाति ने सदैव से ही अधिकांश अवसरों पर बुद्धि के द्वारा 'विवेक और संग्रह' जैसे गुणों का व्यावहारिक समन्वय करने से परहेज किया है और यदि कोई गांधी जैसा महापुरूष ऐसा करने का प्रयास करता भी है तो उसे भीड द्वारा नकारने की हर सम्भव कोशिश की जाती है। मनुष्य जाति की इस क्रिया का परिणाम यह रहा है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से ही अपनी सुरक्षा के लिए प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास करने में लगा रहता है और हमारा यही प्रयास हमारी व्यवस्था को न्यायकारी नही बनने देता है।

मनुष्य जाति की यह सर्वविदित घोषणा कि मनुष्य बौद्धिक प्राणी है, मुझे मनुष्यकृत सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं को स्थापना के कारण एवं इनके प्रचलित प्रकार की समीक्षा करने के लिए बार–बार उद्वेलित करती है। यद्यपि मनुष्य जाति ने अपनी ये सभी व्यवस्था मानवता के सार्वभौम विकास एंव नेतृत्व के लिए निर्मित की हैं लेकिन 'काल' के आधुनिकतम क्षण तक ये व्यवस्थाएं अपने सार्वभौम उद्देश्य को प्राप्ति के लिए कोई प्रयास नही कर पायी हैं। इसका कारण मनुष्य अपनी बौद्धिक क्षमताओं का प्रयोग अपने भौतिक विकास में अधिक तथा प्रकृति से समन्वय करने में बहुत कम करता है। यद्यपि मनुष्य का भौतिक विकास कोई अनुपयोगी क्रिया नही है किन्तु प्रश्न यह है कि हमारे भौतिक विकास का लक्ष्य क्या है? क्या प्रकृति पर नियन्त्रण करना? अपने प्रकृति प्रदत्त जीवन में मनुष्य ने अपनी व्यवस्था के निर्माण का आधार तो जीवन के लिए न्याय एवं सुरक्षा के उद्देश्य की पूर्ती करना बनाया है किन्तु मनुष्य के अधिकांश क्रिया–कलाप अपनी व्यवस्था के इन मौलिक सिद्धान्तों से विमुख ही रहे हैं। भौतिक संसार में मनुष्यकृत व्यवस्था का प्रत्येक प्रपंच प्रकृति पर नियन्त्रण करने का उद्देश्य सिद्ध करता रहा है। दुनिया के सभी देशों के बीच आर्थिक प्रतिस्पर्धा और इनकी सामरिक शक्ति का विकास मेरे इस तथ्य को सत्य सिद्ध करते हैं। मनुष्य के ऐसे सभी पयासों के कारण सभ्यता का विकास तो कहीं ठिठक कर रूक गया है और इसके विकास के नाम पर जो भी क्रिया–कलाप हो रहे हैं वे प्रकृति पर नियन्त्रण और इसके भक्षण से ज्यादा कुछ नही हैं। मैं पुनः कह रहा हूँ कि यदि ऐसा न होता तो व्यक्ति सृष्टि संहारक हथियारों का सृजन न करता, अर्थ के संग्रह को विकास का मानक न कहता, मानवता का विकास और स्वतन्त्रता उदण्ड राज्यों की सीमाओं में न बंधते और न मनुष्य, समाज के परिप्रेक्ष्य के विरूद्ध होने वाले वर्ग–संघर्ष के सिद्धान्तों के प्रति उत्तरदायी सिद्ध होता! वस्तुतः जीवन प्रकृति की देन है और इसका संरक्षण समाज की कृपा। यह दृष्टिकोण तब सिद्ध हो सकता है जब व्यक्ति स्वयं को समाज के प्रति उत्तरदायी सिद्ध करे और समाज स्वयं को प्रकृति के प्रति। मै जब भी इस विषय का निरीक्षण करता हूँ तो मनुष्य–मात्र को इस नीति कि विरूद्ध ही पाता हूँ। इस दशा में भी मनुष्यकृत व्यवस्था का ढाँचा ऐसा नही बनाया जाता है जो मनुष्य को इस क्रम के प्रति प्रतिबद्ध रहने के लिए बाध्य करे। हाँ, मनुष्य सदैव से ही प्रकृति से समन्वय के नाम पर 'ईश्वरवाद' के प्रति श्रद्धानत रहा है; लेकिन इसके इस प्रयास के द्वारा पैदा हुआ उपासना भेद और मनुष्य की साम्प्रदायिक पहचान के विषय समाज में जिस वर्ग–संघर्ष को बढावा देते आ रहे हैं क्या वे मनुष्य को कभी प्रकृति से समन्वय करने देगें? मेरे विचार से तो भौतिक संसार में मनुष्य का प्रकृति से व्यावहारिक समन्वय बनाने का प्रयास प्राकृतिक शक्ति (ईश्वर) की उपासना का सर्वोचित प्रकार सिद्ध होगा; यह निश्चित है।

मनुष्यकृत व्यवस्था में असन्तुलन के प्रभाव को समझने के लिए इस व्यावहारिक दृष्टिकोण की समीक्षा भी आवश्यक है कि सहज आनन्द प्राप्ति की तरफ झुकना मनुष्य का प्राकृतिक स्वभाव होता है और देखा जाए तो अनेक बार आनन्द की प्राप्ति के लिए मनुष्य अपनी जीवन–चर्या से विकास के प्राकृतिक सिद्धान्त को नकारता है। समाज ने 'धर्म' की व्यवस्था विकास के प्राकृतिक सिद्धान्त का अनुपालन करने के उद्देश्य से की है और 'राज्य तथा अर्थ' की व्यवस्था मनुष्य के भौतिक विकास और इसकी उच्चाकांक्षओं को व्यवस्थित रखने के लिए। व्यवस्था के निर्माण के लिए न्याय के दर्शन का भी यही अभिप्राय हो सकता है। लेकिन आश्चर्य यह है कि वर्ग–संघर्ष की मनोदशा से ग्रस्त व्यक्ति, समय–समय पर निहित स्वार्थो के लिए ऐसी व्यवस्था के नए सिद्धान्त गढता है और उसके जरिए समाज को नियन्त्रित करता है। वस्तुतः व्यक्ति, जीवन को व्यवस्था के जिन प्रावधानों के अनुसार जीता है, इसका व्यावहारिक चरित्र उन्ही दशाओं के अनुसार विकसित होता है। मेरे विचार से व्यक्ति के लिए व्यवस्था तथा व्यवहार के सिद्धान्त के प्रभाव से स्वतन्त्र

रहना असम्भव कार्य है; अर्थात यह भी सच है कि समाज के स्थापित दृष्य के लिए हमारी व्यवस्था का ढाँचा उत्तरदायी होता ही है। मनुष्य को यदि अव्यवस्था के सामाजिक संत्रास से मुक्ति पानी है तो इसे व्यवस्था के ऐसे स्वरूप पर विचार करना होगा जो मनुष्य को प्रकृति से समन्वय करने के लिए उत्तरदायी सिद्ध करे। यथा–स्थिति यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि व्यवस्था का वह कैसा स्वरूप हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर हमें मनुष्य के अस्तित्व की उत्पत्ति का निरीक्षण करने से मिलेगा। मनुष्य, समाज की प्राकृतिक इकाई है। इसलिए इससे सम्बन्धित व्यवस्था के स्वरूप का प्रबन्ध भी इसके प्राकृतिक अधिकार को व्यवस्था का आधार मानकर होना चाहिए।

प्रकृति के प्रांगण मं मनुष्यकृत व्यवस्था की रचना, मनुष्यों की भीड तथा अन्य प्रकृति को नियन्त्रित करने के लिए नही की जानी चाहिए बल्कि इनकी रचना जीवन की आवश्यकताओं के ऐसे प्रबन्ध के लिए की जानी चाहिए जिनके तत्वावधान में प्रकृति का दमन न हो और जीवन की मौलिक स्वतन्त्रता समाज की विभिन्न इकाईयों के बीच परस्पर व्यवहार को सन्तुलित रखते हुए अक्षुण्ण रहे। वस्तुतः व्यवस्था की स्थापना का अभिप्राय यह होता है कि यह मनुष्य के जीवन को नियन्त्रित नही करती बल्कि इसे परस्पर व्यवहार में किसी भी अन्य की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप न करने तक उसकी असीम स्वतन्त्रता की सुरक्षा की प्रतिभूति देती है। ''असीम स्वतन्त्रता ही व्यक्ति का एकमात्र प्राकृतिक (मूल) अधिकार होता है।'' व्यवस्था के निर्माण के प्रस्तुत सन्दर्भ को रेखांकित करते हुए यह तथ्य स्पष्ट करना भी उचित रहेगा कि असीम स्वतन्त्रता का मूल अधिकार केवल व्यक्ति का ही होता है, यह न तो किसी मानव समुदाय तथा मनुष्यों के किसी वर्ग का हो सकता है और न अन्य जीव जगत का। यद्यपि मानवता के दृष्टिकोण से यह अधिकार प्रत्येक प्राकृतिक जैविक इकाई का होना चाहिए; लेकिन ऐसा होगा तो मनुष्यकृत व्यवस्था के अनेक विषयों का कोई स्वरूप ही निश्चित नही किया जा सकेगा! मनुष्य बौद्धिक प्राणी है। संग्रह एवं विवेक जैसे गुणों में यह ही परस्पर समन्वय कर सकता है। इसलिए अन्य जीव–जगत को संरक्षण देनें का उत्तरदायित्व भी इसी का है। पर हाँ इस विवेचना में इस कथन को गम्भीरता पूर्वक दोहराना उचित रहेगा कि मनुष्यकृत किसी भी सार्वजनिक व्यवस्था के निर्माण के समय समाज में व्याप्त किसी भी वर्ग अर्थात धर्म, जाति, क्षेत्र, भाषा, उम्र, लिंग, गरीब–अमीर, उत्पादक–उपभोक्ता के आधार पर बने संगठन का कोई मूल (प्राकृतिक) अधिकार नही होता है। आधुनिक समाज व्यवस्था में, धर्म, जाति, क्षेत्र और भाषा के आधार पर पनपी हुई संस्कृतियों को समाज व्यवस्था के निर्माण का आधार नहीं बनाया जा सकता है। पूर्व में मनुष्य की सामाजिक व्यवस्था के निर्माण का आधार रहे इन सिद्धान्तों का महत्व मानव सभ्यता के वैश्विक विस्तार के परिप्रेक्ष्य को देखते हुए अर्थहीन हो गया है। वस्तुतः मनुष्य की सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप देशकाल परिस्थिति के अनुसार ही निर्मित होना चाहिए। यह आशय इस कथन के द्वारा भी स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य ने आधुनिक दुनिया में समाज के प्राकृतिक संगठन के विरूद्ध बने हुए वर्गो को संरक्षण देनें वाली व्यवस्थाओं का निर्माण करके देख लिया है कि इसके परिणाम स्वरूप प्रकृति का अस्तित्व ही दाव पर लग गया है! विचार कीजिए कि धर्म, जाति या क्षेत्र के विषयों को आधार मानने वाले कोई दो आण्विक शक्ति से सम्पन्न राष्ट्रों के प्रमुख, आण्विक युद्ध का निश्चय कर लें तो प्रकृति के अस्तित्व को कौन बचा सकेगा? आज भारत व पाकिस्तान के बीच बैर का आधार धर्म है; पाकिस्तान व ईरान के बीच इसका कारण क्षेत्रवाद है; रूस व अमेरिका के बीच इसका कारण क्षेत्र व अर्थ का विचार है तो अमेरिका व चीन के बीच राजनीतिक, आर्थिक एवं क्षेत्रवाद के विषय हैं। दुनिया को यह परिस्थिति ऐसी मनुष्यकृत व्यवस्था की देन है जो समाज के प्राकृतिक स्वरूप को नष्ट करके समाज में बने हुए विभिन्न वर्गो में व्यवस्थागत शक्ति का केन्द्रीयकरण करती है। वस्तुतः आज तक लोकतन्त्र सहित दुनिया की अन्य कोई भी व्यवस्था प्रणाली ऐसा होने से नही रोक सकी है। इसका कारण हमारी व्यवस्था के

निर्माण का कोई भी परिप्रेक्ष्य मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्ध तथा मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार की विवेचना ही नही करता है। आज तक प्रत्येक मनुष्यकृत व्यवस्था चाहे वह राज्य के स्वरूप में निर्मित हो या समाज के स्वरूप में, सभी शक्ति के केन्द्रीयकरण के रूप में व्यक्त होती हैं और भीड द्वारा निर्मित किसी न किसी असामाजिक वर्ग से संरक्षण पाती हैं। जबकि जीवन की उत्पत्ति का प्राकृतिक सिद्धान्त शक्ति के निरन्तर विसर्जन में निहित है। जीवन की प्राकृतिक इकाईयों के रूप में प्रत्यक्ष प्रकृति जब स्वयं में निहित शक्ति का विसर्जन करती है तो नए जीवन का सृजन होता है; यह प्रकृति का सनातन स्वरूप है। लेकिन मनुष्यकृत व्यवस्था प्रकृति के इस स्वरूप की अवहेलना करके शक्ति का अनावश्यक सृजन करती है और व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में मनुष्य को समाज की प्राकृतिक इकाई के रूप में स्वीकार नही करती। आश्चर्य यह है कि इस क्रिया को करने वाला भी स्वयं मनुष्य हो तो होता है!

प्रस्तुत विषय का यह विश्लेषण इस प्रश्न को जन्म देता है कि व्यवस्था का वह स्वरूप कैसे बने जो समाज के परिवेश को मनुष्य जाति के आन्तरिक वर्ग–संघर्ष से मुक्त कर दे तथा सभ्यता का विकास इस प्रकार हो कि वह प्रकृति से समन्वय करते हुए समाज का आधुनिक स्वरूप गढे? इस प्रश्न का उत्तर केवल यह है कि समाज के परिवेश में निर्मित होने वाली किसी भी व्यवस्था के केन्द्र में मनुष्य का अस्तित्व समाज की प्राकृतिक इकाई के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए; न कि किसी वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में। क्योंकि ऐसा नही होगा तो दुनिया भर में विभिन्न सरकारें, संगठनवाद को जनप्रतिनिधित्व का आधार बनाकर समाज को वर्ग–संघर्ष के दल–दल में फंसाऐं रखेंगी। इस आधुनिक काल में भी भारत सहित दुनिया के तमाम देशो में रह रहे मानव समुदाय के आचरण पर नजर डालते हैं तो व्यक्ति की सामाजिक संरचना का चक्र इस प्रकार दिखाई देता है– व्यक्ति–परिवार–कबीला अथवा कुटुम्ब–जाति–सम्प्रदाय अथवा पन्थ के दुष्चक्र में उलझी हुई अनेक देशो की भीड। भूमण्डलीकरण को महत्व देने वाले इस युग में मनुष्य की काल–वाह्य हो चुकी सामाजिक संरचना का यह प्रकार इसे सामाजिक समन्वय की नीति पर चलने ही नही देता है। यदि व्यवस्था की संरचना में व्यक्ति को समाज की प्राकृतिक इकाई के रूप मे स्वीकार कर लिया जाए तो समाज का जीवन–चक्र इस प्रकार बन जाएगाः– व्यक्ति–परिवार–गाँव (या शहरी मौहल्ला अथवा निकटतम सामज व्यवस्था की इकाई)–जिला– प्रदेश–देश–विश्व अथवा समाज। मूलतः देश भी सामाजिक व्यवस्था की परिपूर्ण इकाई नही होना चाहिए बल्कि यह सामाजिक व्यवस्था की क्रमगत अथवा पूरक इकाई होना चाहिए। व्यवस्था का ऐसा क्रम बनने से उग्र राष्ट्रवाद एवं सामरिक शक्ति के अनावश्यक विकास पर रोक लगेगी। मूलतः लोकतन्त्र भी सामाजिक संचरना के इसी सिद्धान्त का पालन करके अपने उत्कर्ष के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। वैसे भी समाज के परिदृश्य में मनुष्यकृत लोकतान्त्रिक व्यवस्था अपने ढाँचे के निर्माण की ऐसी उदघोषणा तो करती हैं लेकिन विभिन्न देशों की लोकतान्त्रिक व्यवस्था के निर्माण की इकाईयां इनका निर्माण करते हुए व्यवस्था निर्माण के इस मूल–भूत सिद्धान्त को स्वीकार नही करती कि 'व्यवस्था' सदैव यथार्थ के समाज के प्रति उत्तरदायी होनी चाहिए। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में अतीत की सामाजिक परम्पराओं को यथार्थ के व्यवस्थागत नियम के रूप में प्रवृत्त करना उपयुक्त नही हो सकता है, क्योंकि घटनाऐं समाज के स्वरूप को बदलती हैं। परिवर्तन, सृष्टि का शास्वत नियम है, ऐसे कारण हमें व्यवस्था को यथार्थपरक बनाने के लिए सचेत करते हैं। सामाजिक व्यवस्था में अतीत की परम्पराओं को नियम के रूप में स्वीकार करने का परिणाम, इस्लामिक एवं इसाई राज्यों के जैसे घातक एवं असामाजिक निर्माण के रूप में दुनिया के सामने आता है। ऐसी बेतुकी मांग भारत में कई हिन्दु अतिवादी भी उठाते रहते हैं। यदि व्यक्ति अपनी व्यवस्था को सामाजिक यथार्थ के अनुसार प्रबन्धित नही करेगा तो यह समाज के परिवेश से वर्ग एवं सभ्यताओं के संघर्ष को कभी–भी

समाप्त नही कर सकेगा। मनुष्यकृत व्यवस्था के स्वरूप में दोष की उत्पत्ति का कारण व्यवस्था के ढाँचे में यथार्थ–परकता का अभाव है। इसका उन्मूलन तभी हो सकता है जब हम व्यक्ति को समाज की प्राकृतिक इकाई मानकर व्यवस्था के ढाँचे का निर्माण करें; इसका अन्य तो कोई प्रकार नजर नही आता है।

व्यक्ति के मूल अधिकार का व्यवस्थाक्रम एवं समाज तथा राज्य व्यवस्था का स्वरूप–

परम्परागत लोकतान्त्रिक व्यवस्था में यह विषय स्थापित किया जाता है कि व्यक्ति को उसका मूल अधिकार उससे सम्बन्धित राज्य की संवैधानिक व्यवस्था प्रदान करती है। लेकिन व्यक्ति के जीवन की उत्पत्ति का प्राकृतिक परिप्रेक्ष्य ऐसी व्यवस्था के इस विचार को गलत सिद्ध कर देता है। जीवन की प्राकृतिक उत्पत्ति के आधार पर व्यक्ति का मूल अधिकार इसे प्रकृति प्रदत्त होता है न कि यह इसे किसी लोकतान्त्रिक व्यवस्था के द्वारा प्रदान किया जाता है। वस्तुतः प्रस्तुत विषय का विश्लेषण करने से पूर्व यह तथ्य भी स्पष्ट कर दिया जाना आवश्यक है कि अपने निर्माण के सिद्धान्त के अनुसार केवल लोकतान्त्रिक व्यवस्था ही व्यक्ति के मूल अधिकार के विशय पर विचार करती है अन्यथा धर्म, साम्यवाद, राजतन्त्र एवं तानाशाही के सिद्धान्त पर निर्मित होने वाली राज्य व्यवस्था इस विषय पर कोई विचार नही करती हैं, चाहे यह व्यवस्था व्यक्ति को जीवन संचरण की कितनी भी भौतिक सुविधाएं क्यों न उपलब्ध कराती हो ? दुनिया में साऊदी अरब, संयुक्त अरब अमीरात, चीन, उत्तर कोरिया जैसे देश इस विषय के उदाहरण हैं। इन देशो में स्थापित राज्य–व्यवस्था, व्यक्ति एवं समाज को स्वयं में निहित इकाई के रूप में स्वीकार करती हैं जो कि व्यक्ति के लिए गुलामी से बढकर और कुछ नहीं है। दूसरी ओर बुनियादी तौर पर देखें तो लोकतान्त्रिक व्यवस्था की भी यह अवधारणा गलत होती है कि व्यक्ति को उनका मूल अधिकार राज्य के संविधान के द्वारा दिया जाता है। इस विषय के अन्वेषण के परिणाम स्वरूप मैं यह समझ पाया हूँ कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अनेक निर्माता ऐसी व्यवस्था के ढाँचे का निर्माण करते हुए व्यक्ति को समाज की प्राकृतिक इकाई के रूप में स्वीकार ही नही करते हैं तथा व्यवस्था का तमाम ढाँचा भीड में व्यक्ति द्वारा बनाए गए अप्राकृतिक वर्गों एवं संगठनो के प्रति उत्तरदायी बना दिया जाता है। ऐसी लोकतान्त्रिक व्यवस्था का यह दृष्टिकोण व्यक्ति की प्राकृतिक स्वतन्त्रता पर ठीक उसी प्रकार अंकुश लगाने का कार्य करता है जैसे धर्म, साम्यवाद एवं राजतन्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित राज्य–व्यवस्था करती हैं। वस्तुतः लोकतान्त्रिक व्यवस्था का उत्तरदायित्व व्यक्ति के मूल अधिकार की सुरक्षा करना होता है। यह कार्य भी इस व्यवस्था को इस प्रकार करना चाहिए कि व्यवस्था के अन्तर्गत बनने वाले कानून जीवन के मौलिक स्वरूप को नियन्त्रित न करने लगें; क्योंकि व्यवस्था का ऐसा प्रयास समाज पर राज्य सत्ता की उच्छृंखलता स्थापित कर देता है। लोकतान्त्रिक राज्यों में इस प्रकार की उच्छृंखलता के परिणाम स्वरूप विकसित हुई दशाएं जनता की विभिन्न परम्परागत सामाजिक व्यवस्था प्रणालियों को वर्ग एवं सत्ता–संघर्ष का केन्द्र बना देती हं। असल में समाज की ये विभिन्न परम्परागत व्यवस्था प्रणालियां व्यवस्था का बन्द निकाय ही होती हैं जो उस विषय के सामाजिक समन्वय की अवश्यकता के अवसर पर अपने अस्तित्व को सार्वभौम समाज के अस्तित्व से अधिक महत्वपूर्ण मानती रहती हैं। समाज के परिदृश्य में हम यह देखते हैं कि ऐसी पारम्परिक सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन निर्वाह करने वाले लोगों के पास ऐसी बन्द व्यवस्था को ठीक सिद्ध करने के पर्याप्त कारण होते हैं। क्योंकि ये स्वयं से जुडे हुए व्यक्तियों को जीवन निर्वाह की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ती के लिए इन्हें संरक्षण पदान करती हैं। दुनिया की विभिन्न संगठनात्मक धर्म तथा जातिगत व्यवस्थाएं इसी सिद्धान्त के आधार पर स्थापित हुई हैं। दुनिया के कई संगठनात्मक धर्म के प्रवर्तकों ने अपने आस–पास के तात्कालिक समाज की

अस्त–व्यस्त दशाओं के उन्मूलन के लिए नई संगठनात्मक व्यवस्था का सृजन किया और जनता के बीच इनकी सरल स्वीकार्यता के लिए इन नव–सृजित व्यवस्था के सिद्धान्तों को ईश्वरीय आज्ञा के रूप में स्थापित किया; किन्तु जीवन का अभिप्राय तो व्यतीत होने से सिद्ध होता है और यह व्यतीत होता है तो इसकी दशा और दिशा में भी परिवर्तन होता ही है। इसलिए कहा गया है कि परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। प्रकृति के विस्तार पटल पर जीवन की दशाओं में हानि एवं वृद्धि का होना स्वाभाविक क्रियाएं हैं। ये क्रियाएं प्रकृति के सन्तुलन के लिए भी आवश्यक हैं और इन्ही क्रियाओं में जीवन का विस्तार भी निहित है। जीवन के आकार–पकार में वृद्धि का यह उपक्रम, मनुष्य–कृत व्यवस्था में भी परिवर्तन को आवश्यक सिद्ध करता है। चाहे यह व्यवस्था पूर्व में व्यक्ति के रूप में पैदा हुए ईश्वर के संदेशवाहकों अथवा अन्य ऐसे ही कारकों ने स्थापित क्यों न की हो? यदि एक बार के लिए ऐसा मान भी लिया जाए कि सदैव अन्तरध्यान रहने वाला सर्वव्यापी ईश्वर भी ऐसी व्यवस्था को बनाए रखने के प्रति स्वयं को उत्तरदायी सिद्ध करता है, जो या तो काल–वाह्य हो चुकी हैं या फिर सृष्टि में जीवन के विस्तार से सन्तुलन नहीं बना पा रही हैं तो ऐसे ईश्वर की मान्यता को त्याग देना भी प्रकृति की उपासना करना ही है। दुनिया में ईश्वरवाद का सिद्धान्त जो अलग–अलग उपासना पद्धतियों के रूप में समाज में वर्ग संघर्ष का सबसे बड़ा कारण बन चुका है मानव सभ्यता को इन्हें भी त्याग देना चाहिए। व्यक्ति के मूल अधिकार के आधार पर बनाया जाने वाला व्यवस्थाक्रम समाज को ऐसी जटिल एवं यथार्थहीन व्यवस्था से मुक्त कर देगा।

वस्तुतः दुनिया में राज्य की उत्पत्ति का एक कारण 'शक्ति' का सन्तुलित वितरण भी है। क्योंकि राज्यविहीन अवस्था में व्यवस्था के प्राकृतिक अनुशासन का पालन करने वाली भीड में से यदि कोई व्यक्ति उच्छृंखल हो जाए तो भीड़ तानाशाही का शिकार हो जाती है और यदि धार्मिक संगठनवाद, जातिवाद, साम्यवाद, राजतन्त्र तथा यहाँ तक कि लोकतान्त्रिक सिद्धान्त के आधार पर निर्मित राज्य भी यदि निरंकुश रूप से शक्ति का संग्रह करता है तो वैश्विक समाज के बीच इनमें से कोई भी सहजता से अराजक हो जाता है। उच्छृंखल राज्य एवं उच्छृंखल व्यक्ति दोनों ही समाज के अस्तित्व के लिए वैसे ही घातक होते हैं जैसे शेर या कोई अन्य हिंसक जानवर किसी निरीह जीव को अपना निवाला बना लेता है। शेर शक्तिशाली हिंसक जीव है लेकिन वह अपने प्राकृतिक स्वभाव के अनुसार केवल जीवन संचरण के लिए हिंसा करता है। क्षुदा पूर्ती के अतिरिक्त वह निरीह पशुओं का शिकार करके उन्हें मनुष्य की तरह सम्पत्ति के रूप में संग्रहित नही करता। वस्तुतः शक्तिशाली शेर की जीवन शैली पर यह प्रकृति के शासन का प्रकार है। लेकिन प्रकृति ने मनुष्य को बौद्धिक प्राणी के रूप में सृजित किया है। इसके इस गुण के कारण प्रकृति इस पर अन्य जीव जगत की तरह ही नियन्त्रण नही कर सकती है कि यह जीवन संचरण के प्राकृतिक चक्र के अनुसार ही प्रकृति का उपभोग करे! नहीं, बल्कि यह तो प्रकृति के स्वतन्त्र स्वरूप का दोहन अपनी अप्रत्याशित इच्छाओं की पूर्ती के लिए करता है। इस कारण से समाज को व्यक्ति की उच्छृंखलता को नियन्त्रित रखने के लिए विभिन्न प्रकार की व्यवस्था की रचना करनी पडती रहती है। प्रकृति चक्रीय परिवर्तनशील है। इस सार्वभौम नियम के अनुसार प्रकृति से समन्वय बनाए रखने के लिए मनुष्यकृत व्यवस्था में देशकाल परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन आवश्यक होते हैं। धार्मिक संगठनवाद, जातिवाद, साम्यवाद एवं राजतन्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित राज्य व्यवस्थाएं बन्द सामाजिक व्यवस्था का ही वृहत्तर रूप हैं। लोकतन्त्र के सिद्धान्त में ऐसी बन्द व्यवस्था की तुलना में मूलभत अन्तर होता है। लेकिन भारत तथा अन्य कई एशियाई दशों की लोकतान्त्रिक व्यवस्था का अध्ययन यह स्पष्ट कर देता है कि इस प्रणाली का नियमन करने वाले लोग इसका भीड में बने हुए विभिन्न अप्राकृतिक गुटों के प्रति उत्तरदायी नियमन करके इसे समाज की अन्य बन्द

व्यवस्था प्रणालियों के जैसा ही बना देते हैं। व्यक्ति (समाज) को इन व्यवस्था प्रणालियों का परित्याग करके लोकतन्त्र के लोकतान्त्रिक स्वरूप का अपनी व्यवस्था के रूप में निरूपण करना चाहिए। ऐसा होंने पर समाज धार्मिक संगठनवाद अथवा सम्प्रदायवाद, जाति, क्षेत्र, भाषा, उग्र, लिंग, गरीब–अमीर, उत्पादक–उपभोक्ता के अप्राकृतिक वैचारिक विभाजन से मुक्त हो जाएगा और व्यक्तिमात्र के परिश्रम का परिणाम जो कि वैश्विक स्तर पर व्यक्तियों तथा राष्ट्रों के द्वारा प्रतिरोधात्मक सामरिक शक्ति के विकास एवं अन्य वर्ग–संघर्ष के कार्यों में व्यय किया जाता है वह मानवता के संरक्षण में व्यय होने लगेगा। मनुष्यकृत समाज एवं राज्य व्यवस्था का यह स्वरूप मानव सभ्यता को वैश्विक सार्वजनिक इकाई के रूप में स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त करेगा। व्यक्ति की सामाजिक व्यवस्था का यह चक्र समाज के परिवेश से उग्र राष्ट्रवाद तथा वर्ग संघर्ष के अन्य कारणों का पतन करेगा। व्यक्ति (समाज) इस व्यवस्था चक्र का निर्माण व्यक्ति क मूल अधिकार को आधार बनाकर कर सकता है। इसकी रचना का स्वरूप यह हो सकता है –

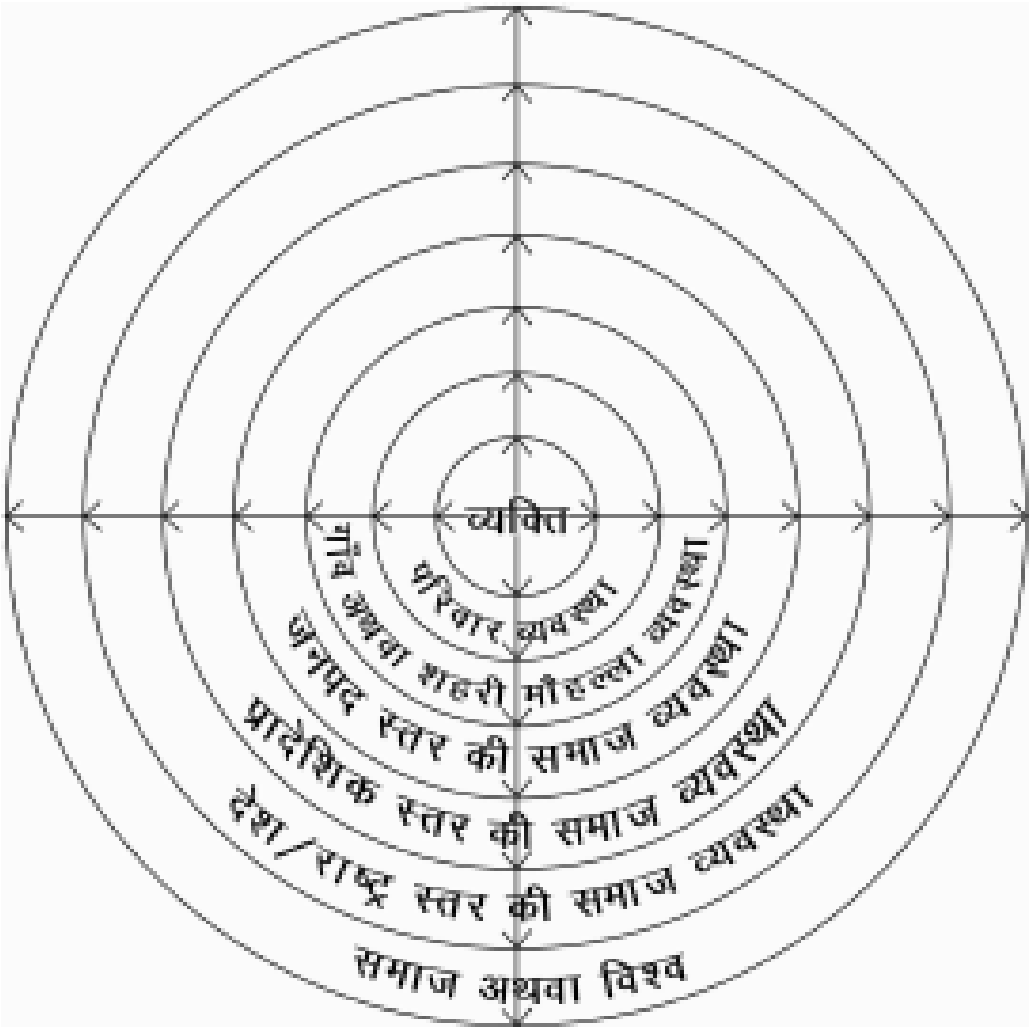

व्यक्ति अपने जीवन–चक्र की गति के लिए विभिन्न प्रकार की व्यवस्था का नियमन करता है, प्रस्तुत व्यवस्था–चक्र भी ऐसी ही व्यवस्था की स्थापना एवं उनके कार्यान्वयन का एक ढाँचा प्रस्तुत करता है। ये व्यक्तिकृत व्यवस्था न्याय, धर्म, राजनीति, अर्थ, रक्षा, लोक प्रशासन एवं अन्य भौतिक विकास के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए स्थापित की जाती हैं। यद्यपि समाज का विद्यमान परिप्रेक्ष्य हमसे यह प्रश्न भी करता है कि दुनिया के सभी देशो की लोकतान्त्रिक व्यवस्था इसी क्रम में तो स्थापित होती हैं। वस्तुतः दुनिया के आम जनमानस के लिए यह एक भ्रम है। क्योंकि विश्व भर की समाज तथा अनेक राज्य व्यवस्थाओं के विषय में मैं जितना भी समझ पाया हूँ उसके अनुसार व्यक्तिकृत व्यवस्था में तमाम गडबड–झाला शक्ति के केन्द्रीयकरण ने पैदा किया है। आज दुनिया में व्यक्ति के लिए धर्म जैसा परिमार्जन का विषय भी शक्ति संग्रह की तृष्णा से मुक्त नही है। समाज के सामने इस चिन्ताजनक स्थिति की उत्पत्ति के दो कारण हैं; एक–व्यक्ति काल–वाह्य हो चुके व्यवस्था के सिद्धान्तों को अपने आदर्श के रूप में स्वीकार कर चुका है, यह इन्हें यथार्थ की कसौटी पर परखना ही नही चाहता और समाज को वर्ग–संघर्ष के गर्त में धकेल दे रहा है। दूसरा–आधुनिक समाज के व्यवस्थाकारों ने इसकी व्यवस्था का मानक–चित्र उलटा टांग दिया है और इस उल्टे टंगे हुए चित्र को सीधा सिद्ध करने के लिए व्यवस्था के विभिन्न विषयों की जो परिभाषाएं गढी गई हैं, उनका परिणाम भी समाज में वर्ग–संघर्ष के रूप में ही आ रहा है। इस सम्पूर्ण समस्या का सरल समाधान यह है कि समाज को संगठनात्मक धर्म अथवा सम्प्रदाय, जाति, क्षेत्र, भाषा, उम्र, लिंग, गरीब–अमीर, उत्पादक–उपभोक्ता जैसे अनावश्यक विषयों से मुक्त किया जाए तथा राज्य व्यवस्था को समाज की सामाजिक व्यवस्था से अलग किया जाए इसके उपरान्त ही न्याय व सुरक्षा जैसे मूल विषयों के उद्देश्यों को प्राप्त करने वाली व्यवस्था का निर्माण किया जा सकेगा। प्रस्तुत व्यवस्था–चक्र में व्यवस्था के विभिन्न स्तरीय निकाय एक ओर जहाँ शक्ति का अनावश्यक केन्द्रियकरण नही कर सकेगें, क्योंकि इनके पास इनके लिए निर्धारित विषय से अतिरिक्त कार्य करने या कराने का अधिकार ही नही होगा तो दूसरी ओर इस व्यवस्था चक्र के अनुसार समाज में विभिन्न वर्ग–संघर्ष के विषयों के पनपने का स्थान ही नही होगा। ऐसा इसलिए हो सकेगा कि इस व्यवस्था–चक्र की संकल्पना में व्यक्ति, समाज की मूल इकाई है निचली नही। इस कारण से ही व्यक्ति को चक्र के केन्द्र में रखा गया है। वस्तुतः व्यवस्था का श्रेष्ठतम स्वरूप यह होता है कि इसके ढाँचे में न तो व्यक्ति की प्राकृतिक स्वतन्त्रता का कोई भी हनन कर सके और न व्यक्ति अथवा इसके द्वारा बनाया गया समाज तथा राज्य की प्रकृति के विरूद्ध कोई संगठन इतना उच्छृंखल बन जाए कि वह किसी भी अन्य की प्राकृतिक स्वतन्त्रता का हनन कर सके। समाज में उच्छृंखल व्यक्ति तथा समाज के परिवेश में बनने वाले अनेक अनावश्यक संगठन इसके सन्तुलन को बिगाडकर न्याय एवं सुरक्षा के अस्तित्व का पतन करते हैं। समाज में व्यक्ति तथा व्यवस्था–तन्त्र की प्रत्येक इकाई के निरंकुश स्वरूप का उन्मूलन कर सकने वाली व्यवस्था के जरिए ही व्यक्ति तथा समाज अपने–अपने स्तर के अनुसार स्वतन्त्रता का सुख भोग सकते हैं। वस्तुतः व्यक्ति के क्रिया–कलाप तथा व्यवस्था सदैव समाज के प्रति उत्तरदायी होने चाहिए, राज्य के प्रति नहीं और यदि जिन परिस्थितियों में स्वाभाविक रूप से ऐसा न हो तो उसे सार्वजनिक नियम के अनुसार ऐसा बना दिया जाना चाहिए। तभी वैश्विक समाज में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सामरिक सन्तुलन बन सकेगा। वस्तुतः प्रस्तुत व्यवस्था चक्र में मैंने समाज व्यवस्था का ऐसा प्रारूप प्रस्तुत किया है जिसमें समाज–व्यवस्था की प्रत्येक इकाई की निजता तथा व्यक्ति के जीवन संचरण का सार्वजनिक क्रम समन्वित रहे। यह निश्चित है कि समाज के सन्दर्भ में व्यवस्था का अभिप्राय सन्तुलन के रूप में स्पष्ट होता है। समाज में यह सन्तुलन तभी स्थापित हो सकता है जब व्यक्ति, व्यक्ति समूह एवं राज्य न उदण्ड बन सके और न निरंकुश। समाज व्यवस्था का यह

क्रम हमे ऐसा लक्ष्य इसलिए प्राप्त करा सकता है क्योंकि यह क्रम किसी राज्य अथवा सरकार का प्रारूप नहीं है। वस्तुतः इस प्रारूप में समाज व्यवस्था की प्रत्येक इकाई को अपनी व्यवस्था के निर्वहन के लिए एक ऐसी कार्यपालक इकाई अथवा सरकार का निर्माण करना होगा जो उसका निर्माण करने वाली इकाई द्वारा निर्धारित कार्यों को करने के लिए तो उत्तरदायी होगी लेकिन उसे व्यवस्था निर्माण की विधियों के निर्माण का कोई अधिकार नहीं होगा। प्रस्तुत व्यवस्था चक्र की प्रत्येक इकाई अपने से वृहत्तर इकाई की पूरक होगी और प्रत्येक बड़ी इकाई अपनी से छोटी इकाई के अधिकार क्षेत्र के बाहर के विषयों अर्थात अपनी से छोटी इकाई से प्राप्त कार्यों को करने के लिए ही स्वतन्त्र होगी। यह सच है कि समाज व्यवस्था के इस प्रारूप का खाका खीचनें का मेरा एक ही तात्पर्य है कि व्यवस्था में शक्ति का नियोजन समाज निर्माण के क्रमानुसार हो, यह कार्य व्यक्ति को केन्द्र मानकर किया जाए न कि सरकार को केन्द्र मानकर और इस विचार का आधार यह है कि समाज व्यवस्था के ऐसे प्रारूप के प्रस्तुत करने का मेरा उद्देश्य यह है कि अभी तक राज्य व्यवस्थाएं समाज व्यवस्था का नरतत्व तय करती रही हैं जो कि गुलामी के विकास का आधार है। वस्तुतः इस स्वरूप के आधार पर समाज न केवल राज्य के स्वरूप का निर्धारण कर सकेगा बल्कि राज्य की उच्छृंखलता पर नियन्त्रण भी रख सकेगा। यदि व्यक्ति ऐसी व्यवस्था बनाने में असमर्थ रहता है तो यह निश्चित है कि तब तक न तो व्यक्ति के मूल अधिकार का कोई तात्पर्य हो सकता है और न समाज और राज्य के मूल तात्पर्य को हम समझ सकेगें! इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रस्तुत व्यवस्था चक्र में समाज की मूल तथा व्यवस्थागत इकाईयों का अर्थ एवं परिभाषा निम्न प्रकार होगी –

व्यक्ति :–

व्यक्ति, समाज की नैसर्गिक इकाई होता है। व्यक्ति की प्राकृतिक स्वतन्त्रता असीम होती है अथवा यह प्राकृतिक स्वतन्त्रता ही व्यक्ति का एकमात्र मूल (प्राकृतिक) अधिकार होता है। इसमें राज्य तथा कोई भी अन्य तब तक हस्तक्षेप नही कर सकता है जब तक इसने किसी भी अन्य की ऐसी ही स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप न किया हो, अथवा व्यक्ति जब तक अपने इस अधिकार की मर्यादा का पालन करता है तब तक वह व्यक्ति है अर्थात समाज की नैसर्गिक इकाई है। व्यक्ति के उन निजी विषयों में, जिनकी पूर्ती वह समाज से सरोकार बनाए बिना कर सकता है, व्यवस्था–तन्त्र की कोई भी इकाई कैसा भी नियम नही बना सकती है। यह नियम सम्पूर्ण व्यवस्था–चक्र के लिए मान्य रहेगा। किन्तु जब भी कोई व्यक्ति किसी भी अन्य की प्राकृतिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करता है तो वह समाज में अपने प्राकृतिक स्वरूप को खो देता है। इस दशा में उसे व्यक्ति न कहकर असामाजिक अथवा अपराधी कहा जाना उचित है और अपराधी को नियन्त्रित करना तन्त्र का कार्य होता है।

परिवार :–

परिवार, समाज व्यवस्था की प्रथम व्यवस्थागत इकाई होती है, प्राकृतिक नही। यूँ तो समाज के व्यवस्था–चक्र में प्रत्येक इकाई व्यक्ति को वृहत्तर समाज व्यवस्था से जोडे रखने के लिए होती है किन्तु परिवार, व्यक्ति एवं समाज के मध्य का वह सेतु है जिसके द्वारा व्यक्ति एवं समाज के परस्पर सामाजिक सम्बन्ध व्यावहारिक रूप से स्थापित होते हैं। परम्परागत समाज व्यवस्था के अनुसार परिवार, व्यक्ति के नैसर्गिक सम्बन्धों के आधार पर निर्मित होने वाली इकाई होता है किन्तु जब यह विषय समाज के दृष्टिकोण से देखा जाता है तो परम्परागत परिवार व्यवस्था का बढता हुआ क्रम सर्वव्यापक समाज व्यवस्था के घेरे में ही एक और समानान्तर समाज व्यवस्था

बनाता चला जाता है। परिवार व्यवस्था का यह क्रम जब तक संयुक्त परिवार व्यवस्था के रूप में रहता है तो यह एक आदर्श स्थिति होती है किन्तु जब इस व्यवस्था का बढता हुआ क्रम रूढ कुटुम्बवाद, इससे गौत्रवाद, इससे रूढ जातिवाद तक पहुँचता है तो यह भयंकर समाज विरोधी दशाएं उत्पन्न करता है। भारत में लगभग सभी जातिगत व्यवस्थाएं इस समस्या से ग्रस्त पायी जाती हैं। भारत की जातीय व्यवस्था का बुनियादी दोष यह है कि इनमें बेहद श्रेठता का भाव होता है। प्रत्येक जाति के लोग अपनी जाति की परम्परागत व्यवस्था को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इस विषय की एक सूक्ष्म समीक्षा करते हैं तो यह तथ्य सिद्ध होता है कि स्वतन्त्रता के बाद भारत की जातीय व्यवस्था में अनेक जातियों के अनेक लोग आरक्षण का लाभ लेने के लिए अपनी ही जातियों को राज्य के दृष्टिकोण से बहुत नीचा एवं साधनहीन सिद्ध कराने का प्रयास करते हैं किन्तु सामाजिक व्यवस्था में इन्ही जातियों के लोग अपनी जातीय व्यवस्था की प्रभुता पर आंच नही आने देना चाहते। कुछ ऐसा ही हाल भारत की श्रेष्ठ जातियों का भी है। श्रेष्ठ जातियों के लोग समाज पर तो अपनी जातीय प्रभुता बनाएं रखना चाहते हैं किन्तु व्यवस्था द्वारा सृजित अवसर की भागीदारी में भी ये प्रभुता बनाए रखने की प्रबल इच्छा रखते हैं।

भारतीय समाज में ऐसी अनेक जातियां हैं जिनका उदय किसी ऋषि, राजा, जीविका का विचार तथा किसी विशेष उद्देश्य हेतु व्यक्ति समूह बनाने के लिए आस्थापरक–यज्ञ का आयोजन था। मै अपने सामाजिक अन्वेषण में यह तथ्य कभी स्वीकार नही कर पाया हूँ कि समाज में ऐसी तात्कालिक सामाजिक जातीय व्यवस्था का उदय जिन परिस्थितियों मे हुआ यह उन परिस्थितियों के अनुसार भी गलत थी! नही, मै इस तथ्य की पुष्टि नही कर सकता हूँ। हाँ मुझे अपने अन्वेषण के दौरान लोगों से ऐसे तर्क अवश्य प्राप्त हुए जो यह पुष्टि करते हैं कि तात्कालिक परिस्थितियों में ऐसी जातीय व्यवस्था के सृजन का उद्देश्य समाज में न्याय, सुरक्षा, वंश एवं जीविका जैसे विषयों में पैदा होने वाली मुश्किलों को हल करना था। एक उदाहरण के तौर पर देखें तो राक्षस शब्द 'रक्ष' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है 'रक्षा करने वाला'। यद्यपि सामाजिक व्यवहार में इस विषय की अनेक व्याख्याएं मिलती हैं। जैस समाज में किवदंती है कि राक्षस कुबेर के कोष के रक्षक होते थे। इस दृष्टिकोण के आधार पर ऐसा सम्भव है कि किन्ही परिस्थितियों में समाज की रक्षा का भार जिन लोगों को सोंपा गया होगा, कालान्तर में उन्होनें सामाजिक व्यवस्था से प्राप्त शक्ति का दुरउपयोग किया होगा; जिस कारण से वे लोग समाज के खलनायक बन गए और यह शब्द भी बुराई के प्रतीक के रूप में स्थापित हो गया। कालान्तर में इस धारणा से जुडे हुए लोग आपसी सम्बन्धों के आधार पर एक जाति के रूप में स्थापित होते चले गए होंगें। वस्तुतः प्राकृतिक आधर पर समाज के वृहत्तर विस्तार में ऐसी व्यवस्था काल–वाह्य हो जाती है जो समाज के विस्तार के अनुसार इसके ढाँचे का सार्वभौम नेतृत्व तो नही कर पाती है अपितु सर्वव्यापक समाज के विरूद्ध अपनी पूर्णता सिद्ध करने में जुट जाती है। सामाजिक व्यवहार को कसौटी बनाएं तो किसी भी व्यवस्था की स्थापना का मूल–भूत सच यह होता है कि व्यवस्था देशकाल परिस्थिति के अनुसार उपयुक्त होनी चाहिए न कि सर्वकालिक रूप से उपयुक्त सिद्ध होने का प्रयास करती रहे; दरअसल में ऐसा हो ही नही सकता है। समाज का जीवन–चक्र घटनाओं के अुनसार अपनी सामयिक व्यवस्था का निर्धारण करता है। स्थापित व्यवस्था में परिवर्तन की आवश्यकता समाज में विकसित दशाओं का परिणाम होती है न कि ऐसा करके व्यक्ति अथवा समाज अपने पूर्वजों की स्थापित व्यवस्था को नकारता है या उनका अपमान करता है। मेरे विचार से परिवार व्यवस्था, समाज व्यवस्था का एक उपयुक्त क्रम है लेकिन इसका परम्परागत जातीय व्यवस्था के विकास में सहायक होना समाज के लिए हानिकारक है। इसलिए परिवार के निर्माण की प्रक्रिया आनुवंशिक भी भले ही रहे लेकिन

इसके व्यवस्था प्रबन्ध की परिभाषा यह होनी चाहिए कि संयुक्त सम्पत्ति एवं संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर आधारित साथ रहने वाले व्यक्तियों का समूह परिवार कहलाता है।

गाँव तथा शहरी मोहल्ला :–

पूँजी के तीव्र गति से निर्माण के लिए भीड के बाजार से सुविधाजनक सम्बन्ध, राज्य के लिए कर संग्रह के सहज प्रबन्ध और जनसंख्या विस्तार के अनुसार रोजगार तथा निवास के नियोजन के प्रयासों के कारण शहरों की बढ़ती हुई आकृति ने समाज व्यवस्था के विकेन्द्रीयकृत स्वरूप की बुनियादी व्याख्या के लिए गाँव के साथ शहरी मोहल्लों को स्वायत्त स्थानीय निकाय के रूप में स्थापित किए जाने के विषय को भी प्रासंगिक बना दिया है। सामाजिक व्यवस्था में स्थानीय निकाय की स्वायत्ता का महत्व इसलिए बढ जाता है कि ऐसा होने पर सरकारें, समाज से अतिशय शक्तिशाली नही बन पाती हैं। प्रस्तुत व्यवस्था–चक्र के अनुसार स्थानीय निकाय की स्वायत्ता राज्य पर जनता का अंकुश बनाए रखने का सहज ढंग है।....यद्यपि मुझे भारत से बाहर की राज्य व्यवस्था का अध्ययन करने का अवसर नही मिला है और न ऐसा करने के लिए मेरे पास पर्याप्त साधन रहें हैं किन्तु आधुनिक संचार क्रान्ति एवं अन्य सुविधाओं के विकास ने वैश्विक समाज का भूमण्डलीकरण करने में बहुत सहायता की है। इस आधार पर हम वैश्विक समाज व्यवस्था का अध्ययन करते हैं तो दुनिया के कई दीगर देशों में राज्य व्यवस्थाएं बेहद कठोर एवं समाज की तुलना में बेहद शक्तिशाली हैं। जैसे चीन, उत्तर कोरिया, साऊदी अरब, रूस इत्यादि देशों में वर्तमान दौर में भी सामाजिक व्यवस्था–तन्त्र देश की केन्द्रीय सत्ता के चारों ओर घूमता है। तत्काल मे जब मै यह सामाजिक अनुसंधान लिपीबद्ध कर रहा हूँ (इक्कीसवीं शताब्दी का दूसरा व तीसरा दशक) अब भी दुनिया के इन महत्वपूर्ण देशों में एक प्रकार से तानाशाही राज्य व्यवस्था ही लागू है। क्योंकि इस आधुनिक युग में भी जहाँ पर जनता अपनी सरकारों का चुनाव अपनी इच्छा से नही कर सकती है, उस राज्य व्यवस्था को तानाशाही के सिवाय तो और कुछ कहा ही नही जा सकता है! ऐसी परिस्थितियों में ये राज्य व्यवस्थाएं व्यक्ति से राष्ट्र/राज्य की ओर होने वाले राज्य सत्ता के विकेन्द्रीयकरण अथवा स्थानीय निकायों की स्वायत्ता को क्या महत्व दे सकती होगी? वस्तुतः समाज–व्यवस्था–तन्त्र की तुलना में राज्य–व्यवस्था–तन्त्र को व्यवस्था की सम्पूर्ण इकाई मानना व्यवस्था तन्त्र की अपूर्ण एवं गलत परिपाटी है। विश्वभर में व्यवस्था तन्त्र की यह परिपाटी, राज्य व्यवस्था को अतिशय शक्ति संग्रह के लिए उद्वेलित करती है। वस्तुतः केवल भारत ही नही बल्कि पूरी दुनिया में, राज्य व्यवस्था के ढाँचे की शक्तियों का व्यक्ति से राष्ट्र/राज्य तथा राष्ट्र/राज्य से समाज के परम विस्तार की ओर किया जाने वाला विकेन्द्रीयकरण का गाँव तथा शहरी मोहल्ला प्रथम सामाजिक स्वरूप है। व्यक्ति को समाज के प्रांगण में सार्वजनिक आचरण करने की स्वतन्त्रता एवं बाध्यता का एहसास कराने वाली यह प्रथम इकाई है। इसलिए गाँव की निजता के विषयों में गाँव को स्वतन्त्र निर्णय करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। यही गाँव की परिभाषा है और यही व्यवस्था के संचालन के लिए की गई शक्ति के विकेन्द्रीयकरण का एक मात्र ठीक प्रकार है।

जनपद अथवा जिला स्तर की व्यवस्था :–

सार्वजनिक व्यवस्था आवश्यकतानुसार व्यक्ति एवं समाज की पहुँच में रहें, इसलिए इनके निर्माण की परिकल्पना विकेन्द्रीयकरण के सिद्धान्त पर की गई है। समाज में व्यवस्था के विकेन्द्रीयकृत ढाँचे को भी दो आधार पर लागू किए जाने के सिद्धान्त विकसित हुए हैं। इनमें यदि राज्य व्यवस्था, व्यक्ति केन्द्रित अथवा तानाशाही स्वरूप की हो तो राज्य व्यवस्था अर्थात शीर्षस्थ सत्ता विकेन्द्रीयकरण के सिद्धान्त का प्रयोग अपने प्रशासनिक ढाँचे के द्वारा समाज के न्यूनतम स्तर

अर्थात व्यक्ति मात्र तक पर अपने नियन्त्रण के लिए करती है और यदि देश में स्थापित राज्य व्यवस्था का स्वरूप लोकतान्त्रिक होता है तो व्यवस्था का विकेन्द्रीयकरण इसके विभिन्न पायदानों के द्वारा व्यक्ति से समाज की ओर होता है। जैसा कि प्रस्तुत व्यवस्था–चक्र में दर्शाया गया है। लेकिन दुनिया में अभी तक ऐसे वास्तविक लोकतन्त्र की कल्पना ही की गई है अथवा इसके लोकतान्त्रिक स्वरूप को अति–अल्पतम रूप में ही प्रयोग किया गया है। दुनिया में आर्थिक एवं सामरिक शक्ति का भयंकर असन्तुलन इस विश्लेषण को ठीक सिद्ध करता है। दुनिया के लोकतान्त्रिक राज्यों में भी तानाशाही अथवा अन्य व्यक्ति केन्द्रित राजनीतिक व्यवस्था पद्धतियों की तरह से ही सत्ता को समाज व्यवस्था का केन्द्र माना जाता है। भारत की वर्तमान राज्य व्यवस्था के विषय में मैने जितना भी अध्ययन किया है उसके अनुसार यहाँ की जिला स्तरीय व्यवस्था जनता पर अफसरशाही तथा अफसरशाही पर राज्य व्यवस्था के रूप में सत्ताधारियों की नियन्त्रण प्रणाली का केन्द्र बनी हुई है। भारत की त्रिस्तरीय पंचायत राज्य व्यवस्था भी एक प्रकार का लोकतान्त्रिक आडम्बर ही है। मै यहाँ पर भारत की पंचायत राज्य व्यवस्था की आलोचना केवल एक कथन के द्वारा करूँगा कि यहाँ पर किसी ग्राम–सभा से जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि को प्रशासनिक व्यवस्था का वह अधिकारी नियन्त्रित करता है जो कि स्वयं भी उस राज्य–व्यवस्था का वैतनिक सेवक है जिसे उस राज्य ने ही नियुक्त किया है जिसकी निर्माता जनता स्वयं है। क्या लोकतन्त्र में जन सेवक, जन प्रतिनिधि के अधिकारों को स्थगित कर सकता है? वस्तुतः मेरा आशय जन प्रतिनिधि को निरंकुश बनाने का नही है लेकिन जन प्रतिनिधि पर नियन्त्रण व्यवस्था में जन सहभागिता के द्वारा ही किया जाना चाहिए। जनता के निर्णय पर राज्य का अंकुश तो गुलामी का प्रतीक है। किसी लोकतान्त्रिक व्यवस्था में शक्ति के विकेन्द्रीयकरण का यह क्रम ठीक नही है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था की ऐसी संरचना समाज के स्थानीय निकायों को पर्याप्त स्वायत्त व्यवस्था के रूप में विकसित होने से रोकती है। अलबत्ता जनपद स्तर की व्यवस्था भी समाज के फैलते हुए स्वरूप का प्रबन्ध कार्य करने के लिए ही होती है। लेकिन व्यवस्था के इस चक्र का स्वरूप व्यक्ति से समाज की ओर विकेन्दित होना चाहिए, राज्य से समाज की ओर नही।

प्रादेशिक स्तर की व्यवस्था :–

व्यवस्था तन्त्र की प्रत्येक इकाई तन्त्र तथा जन के बीच की दूरी सन्तुलित करने के लिए होती है। इसलिए सार्वजनिक व्यवस्था का यह स्तर भी समाज के विस्तार के अनुसार इसके सुचारू प्रबन्ध के लिए ही होता है। किन्तु समाज में ऐसे अनेक व्यक्ति होते हैं जिन्हें व्यवस्था के सामाजिक स्वरूप से ज्यादा क्षेत्र, भाषा, सम्प्रदाय, जाति इत्यादि का संकीर्ण भाव समाज व्यवस्था के रूप में स्वीकार होता है। समाज में प्रादेशिक व्यवस्था का ढाँचा ऐसी परिस्थितियों एवं विषयों पर आधारित नहो होना चाहिए और न ही प्रादेशिक व्यवस्था इस प्रकार से विकसित की जाएं कि ये भी वर्ग आधारित सत्ता संघर्ष का अखाडा बन जाएं अर्थात ये इकाईयां भी शासन–खोरों का स्वर्ग न बन जाएं! प्रादेशिक स्तर की राज्य व्यवस्थाएं तभी सुचारू बन सकती हैं जब ये भी इस विषय के लिए बाध्य हों कि व्यवस्था–चक्र में व्यवस्था की उससे पूर्व की इकाईयां क्रमगत श्रेणी में स्वयं से विस्तारित इकाई की पूरक हैं न कि उसके अधीन कार्य करने वाली इकाईयां हैं।

देश/राष्ट्र/राज्य स्तर की व्यवस्था :–

प्राचीन काल से ही जब से व्यक्ति ने अपनी व्यवस्था के लिए राज्य नाम की संस्था का गठन किया है तभी से व्यक्ति केन्द्रित व्यवस्था में राज्य के मुखिया में तथा आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्यों में निर्वाचित सरकारों में सम्प्रभुता निहित होती है। व्यवस्था चलाने के नाम पर राज्य को

स्वयं से यह स्वीकृति व्यक्ति एवं समाज की स्वतन्त्रता पर प्रश्न चिन्ह लगा देती है! वस्तुतः सामाजिक व्यवस्था–चक्र में राज्य, समाज द्वारा निर्धारित की गई व्यवस्था की कार्यपालक इकाई होती है, सम्प्रभु नही। राज्य का सम्प्रभु होना सामज के हित का विषय नही हो सकता है। वैश्विक समाज में अनेक राज्यों के सम्प्रभु होने के कारण शक्ति एवं अर्थ का सन्तुलन न तो कभी बन पाया है और न कभी बन सकेगा! व्यक्ति की उच्छृंखलता अथवा इसके निरंकुश स्वभाव ने कठोर एवं अतिशय शक्ति संग्रह करने वाले संगठनात्मक राज्यों को जन्म दिया और कहा कि राज्य एक सम्पभु इकाई होती है, राज्य की सम्प्रभुता के इस सिद्धान्त ने विश्व में राज्य द्वारा प्रतिरोधात्मक शक्ति संग्रह का सिद्धान्त विकसित किया है। विश्व में इस व्यवस्था क्रम का यह परिणाम आया है कि मानव सभ्यता प्रकृति प्रदत्त अगाध सम्पदाओं को सृष्टि संहारक हथियारों के विकास में स्वाहा करती रही है। वस्तुतः सम्प्रभुता तो व्यक्ति में निहित होती है और व्यवस्था के निर्माण के लिए इसका समायोजन केवल समाज के परम विस्तार में किया जा सकता है, न कि अन्य किसी भी व्यवस्थागत भीड निर्मित वर्ग में। व्यक्ति तथा समाज के बीच बनने वाली व्यवस्थागत इकाईयां, जो कि कई संगठनों के रूप में निर्मित होती हैं, ये केवल इनकी व्यवस्था प्रबन्ध के लिए होती हैं, इन पर नियन्त्रण के लिए नही। वस्तुतः देश अथवा राष्ट्र अथवा इनकी सरकारों को व्यवस्था–क्रम के अनुसार व्यवस्था की परस्पर पूरक इकाई होना चाहिए स्वतन्त्र नहीं। जब तक समाज में कोई भी व्यवस्थागत इकाई सम्प्रभु बनी रहेगी तब तक अनेक प्रकार के अन्तरराष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय शक्ति संघर्षों का उन्मूलन नही किया जा सकता है और न समरूप समाज स्थापित किया जा सकता है। समाज की व्यवस्थागत इकाईयों को असामाजिक तत्वों से समाज की रक्षा के लिए इसके प्रति उत्तरदायी रहते हुए या इसकी आज्ञा के अनुसार शक्ति संग्रह करनी चाहिए। मेरे विचार से देश अथवा राष्ट्र, वैश्विक समाज व्यवस्था का वह अंग होता है जो किसी निश्चित भू–भाग पर समाज के प्रति उत्तरदायी लोक व्यवस्था करता है।

समाज अथवा विश्व :–

समाज, व्यक्ति की व्यवस्थागत संरचनाओं का सर्वव्यापक चक्र है। समाज न तो किसी नैसर्गिक उदर से जन्म लेता है और न इसे किसी कानून व्यवस्था के द्वारा स्थापित किया जा सकता है; लेकिन तब भी यह व्यक्ति के जीवन–चक्र की पूर्ण व्यवस्था है। इसका सर्वविदित कारण यह है कि जीवन–चक्र को गतिमान रखने के लिए पाकृतिक दृष्टिकोण से एकल व्यक्ति पर्याप्त नही होता है। व्यक्ति की जैविक संरचना एवं भौतिक आवश्यकताएं इसे अन्य व्यक्तियों से परस्पर व्यवहार करने के लिए बाध्य करती हैं। व्यक्ति के जीवन संचरण के लिए इसका परस्पर व्यवहार ही समाज नाम की संस्थात्मक व्यवस्था को जन्म दे देता है। समाज के प्राकृतिक स्वरूप को जन्म देने वाला व्यक्तियों के बीच का परस्पर व्यवहार संगठनात्मक धर्म अथवा सम्प्रदाय, जाति, क्षेत्र, भाषा, उम्र, लिंग, उत्पादक–उपभोक्ता एवं गरीब–अमीर के भेद से मुक्त होता है। दो या उनसे अधिक व्यक्तियों के बीच होने वाला परस्पर व्यवहार सदैव समाज के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए, इन उपरोक्त लिखित समाज विरोधी विषयों के प्रति नही। इसलिए समाज की परिभाषा यह होती है कि किसी भी काल में परिस्थितियों के सापेक्ष रहने वाले प्राकृतिक रूप से विकसित, दीर्घकालिक नियमों को मानने वाले व्यक्तियों का समूह समाज कहलाता है। मैने समाज की परिभाषा व्यक्त करते हुए 'परिस्थितियों की सापेक्षता' के विषय का जिक्र इसलिए किया है कि कालान्तर में समाज का आकार–प्रकार बदलता रहता है। समाज व्यवस्था के पुराने नियमों के विषय में मेरा ऐसा मानना है कि न तो सभी नियम सदैव के लिए उपयुक्त हो सकते है और न अनुपयुक्त। इसलिए हमे ऐसी व्यवस्था की यथार्थ के अनुसार समीक्षा करते रहना चाहिए और जो ठीक हो उसे स्वीकार कर

लेना चाहिए। इस विषय में समाज की एक समीक्षा देखिए कि हम जब भारत के ईस्वी सन् के छठी शताब्दी तक के इतिहास का निरीक्षण करते हं तो भारत में इस काल से कहीं पहले जैन एवं बौद्ध जैसे संगठनात्मक धर्मो के उदय तथा विस्तार के बाद भी संगठनात्मक धर्म, समाज में हिंसा का कारण नही बन रहा था। यद्यपि उस काल–खण्ड तक के समाज में धर्म से इतर विषयों के आधार पर हिंसा होती रही थी किन्तु विश्व क साथ भारत में इस्लाम के बढते हुए प्रभाव ने धार्मिक संगठनवाद के हिंसक स्वरूप से समाज का परिचय कराया। मानव सभ्यता का इतिहास इस्लाम पर यह आक्षेप इसलिए लगा सकता है कि इस्लाम की संगठनात्मक धर्म व्यवस्था, समाज की अन्य तमाम सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था से समन्वय करने का प्रयास नही करती है। वस्तुतः देशकाल परिस्थिति के अनुसार होने वाले समाज के विस्तार तथा स्वरूप परिवर्तन की दशा में समाज को सन्तुलित रखने के लिए व्यवस्था के ढाँचे में परिवर्तन आवश्यक होता है। इसलिए ही मैने समाज की परिभाषा में 'परिस्थितियों के सापेक्ष' विषय का जिक्र किया है। अस्तु समाज के विस्तार में समाज के अतिरिक्त किसी भी अन्य तथाकथित सामाजिक संगठन के होने का अर्थ है कि समाज अपना प्राकृतिक स्वरूप खो चुका है। विश्व में अभी तक हुए मानव सभ्यता के विस्तार में ये आठ प्रकार के संगठन हैं, जिनका ब्यौरा उपरोक्त दिया जा चुका है। इसलिए व्यक्ति मात्र का यह प्रयास होना चाहिए कि वह व्यक्ति तथा समाज के ढाँचे में समाज की व्यवस्था का संचालन करने वाली संगठनात्मक इकाईयों के अतिरिक्त अन्य किसी भी संगठनात्मक इकाई का निर्माण नहीं होना चाहिए। प्रस्तुत व्यवस्था–चक्र की संगठनात्मक इकाईयां केवल वहो कार्य करने के लिए स्वतन्त्र होंगी जो उसकी पूरक इकाई के दायरे से बाहर का होगा। समाज के इस व्यवस्था–चक्र में केन्द्र से समाज की ओर बनने वाले व्यवस्था–क्रम में हर प्रथम इकाई स्वयं से अगली इकाई की पूरक होगी तथा राज्य व्यवस्था की प्रत्येक इकाई समाज व्यवस्था के प्रति उत्तरदायी होगी।

प्रस्तुत विमर्श हमे सृष्टि के कुछ मूल विषयों का विश्लेषण करने के लिए भी उद्वेलित करता है। जैसे सृष्टि में अपनी नैसर्गिक उत्पत्ति के कारण क्या केवल व्यक्ति को ही असीम स्वतन्त्रता का मूल अधिकार प्राप्त होता है या यह अन्य जीव–जगत का भी हो सकता है? व्यक्ति का यह मूल अधिकार विभिन्न प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाओं के निर्माण को किस प्रकार प्रबन्धित कर सकता है? मेरे दृष्टिकोण में यहाँ पर उत्पन्न हुए पहले प्रश्न का सर्वविदित उत्तर यह है कि सृष्टि में केवल व्यक्ति ही ऐसा जीव है जो अपने जीवन–यापन के प्राकृतिक परिवेश में अपनी बुद्धि, विवेक तथा संग्रह प्रवृत्ति के आधार पर भौतिक परिवर्तन करता है। जिसे यह अपना भौतिक विकास कहता है। व्यक्ति के इस भौतिक विकास का क्रम ही इसे प्रकृति का संरक्षक सिद्ध करता है और यह ही इसे इसका शत्रु भी! ऐसा इसलिए होता है कि यदि व्यक्ति के भौतिक विकास का क्रम प्रकृति के प्रति उत्तरदायी है तो यह इसका संरक्षक सिद्ध हो जाता है और यदि इसके भौतिक विकास का क्रम प्रकृति के विरूद्ध हो जाता है तो यह इसका शत्रु सिद्ध हो जाता है। यह भी निश्चित है कि व्यक्ति का प्राकृतिक स्वरूप भौतिक विकास की अपेक्षा से मुक्त नही हो सकता है। इसलिए एक ओर जहाँ व्यक्ति के निरकुंश स्वरूप के उन्मूलन तथा भौतिक विकास की प्रणालियों के नियोजन के लिए विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाओं का निर्माण किया जाता है तो दूसरी ओर इन विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाओं से व्यक्ति की नैसर्गिक स्वतन्त्रता को बचाने के लिए व्यक्ति के नैसर्गिक अथवा मूल अधिकार को इनके निर्माण का आधार मानना आवश्यक है। यद्यपि मेरे दृष्टिकोण में सृष्टि में अन्य जीव–जगत को व्यवस्था की ऐसी परिभाषा की कोई आवश्यकता नही होती है क्योंकि वे सभी प्रकृति से समन्वय बनाने वाले अथवा प्राकृतिक जीवन शैली को ही स्वीकार करते हैं। अतः इन्हें इनकी प्रकृति के अनुसार व्यक्तिकृत भौतिक व्यवस्थाओं द्वारा ही संरक्षण मिलना चाहिए।

इस विचार खण्ड का दूसरा प्रश्न यह है कि व्यक्ति का यह मूल अधिकार विभिन्न प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाओं के निर्माण को किस प्रकार प्रबन्धित कर सकता है? जैसे किसो परिस्थिति में व्यक्ति के लिए शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक है, किसी परिस्थिति में माता–पिता–परिवार के प्रति दायित्वों का निर्वहन आवश्यक है तो किसी में समाज के प्रति दायित्वों का निर्वहन आवश्यक होता है, इत्यादि। व्यक्ति के सामने कई परिस्थितियों में अथवा कई बार एक साथ भी ऐसे अनेक विषय उत्पन्न हो जाते हैं जिनमें कई बार तो एक ही समय में कई विषय एक–दूसरे के विरोधाभाषी होते हैं; ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति की असीम प्राकृतिक स्वतन्त्रता कैसे जीवित रह सकती है? वस्तुतः ऐसी अनेक समस्याओं की उत्पत्ति का कारण तो वर्ग–संघर्ष के विभिन्न विषयों पर आधारित हमारी सामाजिक संरचना का असामाजिक ढाँचा होता है। व्यक्ति के मूल अधिकार का गुण–विभाजन तथा इसके आधार पर बना हुआ व्यवस्था–चक्र समाज के असामाजिक ढाँचे का समूल उन्मूलन कर देगा। व्यक्ति, समाज की प्राकृतिक इकाई है, इसलिए यह समाज में वर्ग–संघर्ष का कारण नही बनना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यक्ति की कृत्रिम आवश्यकताओं तथा व्यवस्था को व्यक्ति के मूल अधिकार के रूप में परिभाषित नही किया जाना चाहिए। जैसे संगठनात्मक धर्म, कृत्रिम शिक्षा, जाति, वेश–भूषा, पैतृक जीविका का प्रकार, भाषा, राष्ट्र/राज्य के प्रति निष्ठा का प्रदर्शन जैसे अनेक विषय व्यक्ति के मूल अधिकार की श्रेणी में नही आ सकते हैं। किन्ही परिस्थितियों में ये विषय व्यक्ति के लिए आवश्यक हो सकते हैं लेकिन ये व्यक्ति के अस्तित्व का सृजन नही करते हैं। ऐसे सभी विषय व्यक्ति के प्राकृतिक सृजन को अपनी व्यक्तिगत भौतिक धारणाओं के घेरे में बांधते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि ये व्यक्ति के बहुमुखी विकास के सूत्राधार हैं। यद्यपि कई बार ऐसा भी होता है कि ऐसे विषय व्यक्ति के भौतिक जीवन प्रबन्ध का सच बन जाते हैं लेकिन ये व्यक्ति के प्रकृति से समन्वय बनाने का कारण कभी नही बनते। मेरे विचार से व्यक्ति के प्राकृतिक स्वरूप तथा भौतिक व्यवस्था प्रबन्ध का समन्वय करने के लिए इसकी मूल स्वतन्त्रता का चार चिर–परिचित आधार (श्रेणी नही) पर गुण–विभाजन करना उचित रहेगा। ये आधार विषय हैं–एक–जीवन की स्वतन्त्रता। दो–स्वनिर्णय की स्वतन्त्रता। तीन–अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता। चार–सम्पत्ति की स्वतन्त्रता। इन चार विषयों के गुण, कर्म, स्वभाव की विवेचना निम्न प्रकार से होगी –

एक–जीवन का स्वतन्त्रता :–

व्यक्ति का जीवन नैसर्गिक है। व्यक्ति जब तक प्रकृति की मर्यादाओं का उलंघन नही करता है तब तक इसके अस्तित्व पर इसके स्वयं के अतिरिक्त किसी भी अन्य का कोई नियन्त्रण नही हो सकता है। उक्त विषय में प्रकृति की मर्यादा का अर्थ व्यक्ति के समाज के प्रति उत्तरदायी होने में निहित है न कि किसी भी 'वाद' में। समाज की स्वयं विकसित ढाँचागत व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति 'अपने' तथा समाज के जीवन को संवारता है। व्यक्ति के जीवन– प्रबन्ध की व्यवस्था का यह क्रम प्रस्तुत व्यवस्था चक्र में प्रदर्शित किया गया है। प्रस्तुत विषय की विवेचना में व्यक्ति के मूल अधिकार की पुनरावृत्ति हो सकती है। अस्तु व्यक्ति के 'जीवन की स्वतन्त्रता' का अस्तित्व तभी सिद्ध हो सकता है जब समाज के ढाँचे की संरचना सामाजिक हो, वर्गो पर आधारित नही।

इस विषय की विवेचना में मै पुनः यह कहुँगा कि व्यक्ति, समाज की मूल इकाई होता है किन्तु आम जन–मानस की ऐसी अवधारणा बनी रहती है कि परिवार भी समाज की मूल इकाई होता है। इस कारण से दुनिया के अन्य देशां में तो हो सकता है कम हो लेकिन भारत में तो यहाँ की अपरिपक्व लोकतान्त्रिक व्यवस्था तथा परम्परागत वर्ग आधारित सामाजिक ढाँचा आपस में टकराते रहते हैं और इस टकराव का कोई तर्क संगत हल नही निकाल पाते हैं। भारत जैसे

अपरिपक्व लोकतान्त्रिक राज्य में इस टकराव का कारण इसके नीति–नियोजन की स्थापना की प्रक्रिया में व्यक्ति एवं समाज के सामाजिक स्वरूप को महत्व नही दिया जाना है, बल्कि इसकी व्यवस्था के द्वारा भीड के बीच पनपे असामाजिक वर्गो को सन्तुष्ट रखने के अनावश्यक प्रयास किए जाते हैं। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसा होने का क्या कारण है ? वस्तुतः मानव सभ्यता के विकास के प्रारम्भिक चरण में सामाजिक संरचना का स्वरूप व्यक्ति–परिवार–कुटुम्ब (कबीला)–जाति–सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ। देशकाल परिस्थिति के अनुसार व्यक्ति की जैविक एवं भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ती के लिए इस क्रम का बनना स्वाभाविक प्रक्रिया ही प्रतीत होती है। मानव सभ्यता के विकास के क्रम पर जब हम नजर डालते हैं तो हमें विश्व में ऐसे अनेक जातीय एवं साम्प्रदायिक संगठनों के निर्माण की जानकारी मिलती है। मेरे विचार से व्यक्ति की परम्परागत समाज व्यवस्था के इस विचार का समाज विरोधी स्वरूप तब बनना शुरू हुआ जब व्यक्ति ने अपने जातीय एवं साम्प्रदायिक संगठन को अन्य समाज पर वर्चस्व–स्थापना का माध्यम बनाया। समाज में व्यक्ति के इस कृत्य के अनेक उदाहरण हैं। जैसे इसाई एवं इस्लामवादियों के बीच कई धार्मिक युद्ध हुए। दुनिया में अनेक बार ऐसे प्रयास किए गए हैं और अपने ऐसे प्रयासों में सफलता पाने के लिए इस सिद्धान्त के द्वारा भीड का रूख अपनी ओर करने की कोशिश की गई है कि जातीय एवं साम्प्रदायिक व्यवस्था ईश्वरकृत हैं। दुनिया की ऐसी अनेक ईश्वरकृत व्यवस्थाओं की जब मै पडताल करता हूँ तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब ये व्यवस्थाएं ईश्वरकृत हैं, स्वयं में पूर्ण हैं तो समाज के प्राकृतिक विस्तार में ये वर्ग संघर्ष का कारण क्यों बन जाती हैं? ये व्यवस्थाएं ईश्वरवाद के सर्वव्यापक स्वरूप के पक्ष में अपने अस्तित्व को एक दूसरे में समन्वित क्यों नही कर लेती हैं? विभिन्न कालान्तर में दुनिया के अलग–अलग क्षेत्रों में हुए समाज विस्तार के अनुसार इसकी विभिन्न जातीय एवं साम्प्रदायिक व्यवस्थाओं के सिद्धान्त अपूर्ण सिद्ध हो जाते हैं। समाज में इन घटनाओं के परिणाम स्वरूप साम्प्रदायिक व्यवस्थाओं का उन्मूलन होकर समाज में 'संगठनात्मक धर्म' के रूप में नई व्यवस्था प्रचलन में आयी। दुनिया के विभिन्न क्षेत्रों में जैन, बौद्ध, इस्लाम, इसाई, जैसे अनेक संगठनात्मक धर्म, समाज में अपने पूर्व को अपर्याप्त अथवा काल–वाह्य हो चुकी व्यवस्थाओं के कारण जन्में हैं। इनकी उत्पत्ति का अन्य कोई मौलिक तर्क सिद्ध नही होता है। लेकिन आश्चर्य यह है कि दुनिया के सभी संगठनात्मक धर्म जिन्हे ईश्वरकृत जीवन दर्शन कहा एवं माना गया है; ये भी भीड का समदर्शी नेतृत्व करने में अक्षम रहे हैं। मेरी दृष्टि में इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सृष्टि में जीवन का क्रम बनाए रखने के लिए प्रकृति अपने स्वरूप में निरन्तर परिवर्तन करती रहती है। यदि ईश्वर इसका 'कर्ता' है तो उसने ही इसे ऐसा बनाया है। सृजन और विसर्जन प्रकृति की सहज क्रियाएं हैं। इन क्रियाओं के बीच की अवधि जीवन कहलाती है। जीवन न स्थायी है और न प्रकृति इसे विस्मृति के गर्त में धकेलती है। मनुष्यकृत व्यवस्थाएं प्रकृति का स्वरूप नही होती हैं बल्कि ये व्यक्ति के सांसारिक जीवन प्रबन्ध का एक प्रकार भर होती हैं। मनुष्यकृत संगठनात्मक धर्म भी ऐसी ही एक व्यवस्था है। जीवन निर्वाह की दशाओं में परिवर्तन हमें इसकी भौतिक व्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन के लिए भी सचेत करते हैं। व्यक्ति स्वयंकृत जिस व्यवस्था में सामयिक परिवर्तन नही करता है वह न केवल जीवन की भौतिक गति में बल्कि इसकी प्राकृतिक गति में भी अवरोध उत्पन्न करती है। समाज के जीवन–चक्र के किसी काल–खण्ड में कुटुम्ब, जाति, सम्प्रदाय तथा धार्मिक संगठनवाद के आधार पर बनने वाली व्यवस्थाएं अनुचित नही रही होंगी बल्कि समाज के ढाँचे का विस्तार स्थापित व्यवस्था को अपर्याप्त सिद्ध कर देता है। यह घटना ठीक वैसे ही है जैसे दस वर्ष के बच्चे के सिलाए गए कपडे उसी व्यक्ति को बीस वर्ष की उम्र में पर्याप्त नही होते हैं। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था में सामयिक परिवर्तन का अभाव भीड के बीच वर्ग संघर्ष की उत्पत्ति का कारण बन जाता है। यथार्थ की सामाजिक दशाओं के अनुसार अब इसके ढाँचे से

कुटुम्ब, जाति, सम्प्रदाय एवं संगठनात्मक धर्म के व्यवस्थागत स्वरूप का उन्मूलन होकर 'व्यक्ति' के स्वरूप का सामाजीकरण होना चाहिए। व्यक्ति एवं समाज के अस्तित्व की रक्षा के लिए यह नीति यथार्थपरक सिद्ध होगी और इसी प्रयास से व्यक्ति के जीवन पर स्वयं का प्राकृतिक अधिकार सिद्ध हो सकेगा।

वस्तुतः व्यक्ति के 'जीवन की स्वतन्त्रता' के दृष्टिकोण से देखें तो लोकतान्त्रिक व्यवस्था में ऐसी परम्परागत व्यवस्था का कोई स्थान नही हो सकता है जो व्यक्ति को समाज के प्रति उत्तरदायी बनने से रोके! वस्तुतः कोई भी व्यक्तिकृत व्यवस्था सर्वकालिक नही हो सकती है। व्यक्ति परम्परागत तथा तात्कालिक ढाँचागत व्यवस्था में देशकाल परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन करके ही प्रकृति एवं समाज में समन्वय बनाकर सन्तुलित जीवन जी सकता है। व्यक्ति जब यथार्थ की कसौटी पर खरे उतरने वाले ऐसे निर्णय करता है तो उसकी जीवन की प्राकृतिक स्वतन्त्रता सिद्ध हो जाती है।

दो–स्वनिर्णय का स्वतन्त्रता :–

स्वनिर्णय की स्वतन्त्रता के अभाव में व्यक्ति के जीवन का न तो नैसर्गिक अस्तित्व सिद्ध हो सकता है और न वह समाज के विस्तार में स्वतन्त्र इकाई के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। लेकिन व्यक्ति, समाज के प्राकृतिक विस्तार में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ती के लिए सर्वत्र परस्पर सम्बन्ध बनाता है। सम्बन्धों का यह क्रम ही व्यक्ति को सामाजिक व्यवस्था में जकडना शुरू करता है। यह आवश्यक है कि कोई व्यवस्था बनगी तो व्यक्ति के स्वनिर्णय के अधिकार का सीमांकन भी करेगी ही। व्यवस्था का ऐसा स्वरूप एक ही व्यक्ति को समाज के सामने अनेक रूप में प्रत्यक्ष करता है। किसी रूप में वह निर्णय करने वाला होता है और किसी रूप में अन्य का निर्णय मानने के लिए बाध्य! मनुष्यकृत व्यवस्था के अनेक रूप हमें व्यक्ति की प्राकृतिक स्वतन्त्रता के अस्तित्व पर भ्रम में डालते हैं कि अनेक बन्धनों के बाद भी इसकी प्राकृतिक स्वतन्त्रता को कैसे जीवित रखा जा सकता है? किन्तु इस प्रश्न का उत्तर भी बहुत सरल है कि मनुष्यकृत व्यवस्था व्यक्ति के द्वारा व्यक्ति के लिए ही तो है। वस्तुतः व्यक्ति ही ऐसी व्यवस्था का सृजन कर्ता, प्रयोगकर्ता और उन्मूलनकर्ता है। इसलिए जब कोई व्यवस्था देशकाल परिस्थिति के अनुसार समाज की कसौटी पर खरी उतरती है तो किसी न किसी रूप में व्यक्ति ही इसका उत्तरदायी होता है। मूलतः व्यवस्था का बन्धन व्यक्ति पर नही होता बल्कि वह तो व्यक्ति की दशा पर होता है। जैसे व्यक्ति यदि जीविका के सृजन के लिए किसी उपक्रम या नियोक्ता के अधीन कार्य करता है तो वह कार्य करने की दशा में सम्बन्धित केन्द्र की व्यवस्था के प्रति उत्तरदायी होता है। किसी भी उपक्रम में कार्य करने वाला व्यक्ति केवल एक ही दशा में स्वतन्त्र निर्णय कर सकता है, जब वह उपक्रम अपने कार्य के लिए नियुक्त व्यक्ति के प्रति अपनी व्यवस्था द्वारा की गई घोषणा की पूर्ती न करे अथवा व्यक्ति उक्त उपक्रम से स्वतन्त्र होने का निर्णय करे! वस्तुतः किसी भी उपक्रम की व्यवस्था व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अंकुश नही लगा सकती है लेकिन किसी भी उपक्रम के घेरे में आने के बाद व्यक्ति कोई स्वतन्त्र इकाई नही रह जाता है और न स्वयं से अलग किसी भी व्यवस्था के घेरे में निहित इकाई (व्यक्ति) को कोई विशेषाधिकार दिया जाना चाहिए। अतः व्यक्ति का मूल अधिकार उसके व्यक्ति रहने तक निश्चित है। अन्यथा व्यवस्था के उपक्रम के अन्तर्गत व्यक्ति का स्वतन्त्र स्वरूप गौण हो जाता है, इनके घेरे में व्यक्ति, कर्मचारी, सिपाही, अधिकारी या सम्बन्धित व्यवस्था के द्वारा स्थापित पदनाम के अनुसार होता है। इस परिस्थिति में व्यक्ति के मानवाधिकारों की रक्षा करना सम्बन्धित व्यवस्था का उत्तरदायित्व होता है। लेकिन ऐसी व्यवस्था के दायरे के बाहर होने

पर व्यक्ति स्वनिर्णय के लिए स्वतन्त्र होता है। वस्तुतः यह स्वतन्त्र व्यक्ति ही समाज की इकाई होता है।

तीन–अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता :–

प्राणी मात्र में आचरण द्वारा अथवा किसी अन्य विधा से स्वयं को व्यक्त करने की क्षमता का होना प्रकृति की सनातन जीवंतता को सिद्ध करता है। प्राणी मात्र का स्वयं को व्यक्त करने का इसके 'प्राकृतिक आचरण' का प्रकार सर्वोच्च होता है। क्योंकि इसके प्राकृतिक आचरण के प्रकार द्वारा सहजता से इसके चरित्र का निर्धारण हो जाता है। व्यक्ति द्वारा विकसित संवाद तथा लिखने की विधा स्वयं को व्यक्त करने की 'आचरण' की विधा से बाद का विषय है। वस्तुतः प्राणी मात्र की प्राकृतिक आचरण की स्वतन्त्रता इसका प्राकृतिक गुण होता है। इसके इस गुण पर अंकुश लगने के बाद इसका प्राकृतिक जैविक स्वरूप नष्ट हो जाता है। इसलिए आचरण की स्वतन्त्रता प्राणी का प्राकृतिक अधिकार होता है; किन्तु सृष्टि में प्राणी मात्र की स्वयं को व्यक्त करने की आचरण की स्वतन्त्रता की यह पडताल हमारे सामने दो महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न करती है– एक–क्या सृष्टि में प्रकृति प्रदत्त मूल अधिकार कवल व्यक्ति का ही होता है अथवा यह अन्य जीव–जगत की इकाईयों का भी हो सकता है? दो–क्या व्यक्ति द्वारा विकसित भौतिक सभ्यता के स्वरूप ने व्यक्ति के जीवन के प्राकृतिक स्वरूप को नष्ट कर दिया है?

वस्तुतः प्रस्तुत सन्दर्भ में ये दोनों प्रश्न प्रकृति के विस्तार तथा मनुष्यकृत व्यवस्था के बीच अत्यन्त तीक्ष्ण द्वन्द पैदा करते हैं। इस विषय में व्यक्ति अपने विचार–द्वन्द को चाहे जहाँ तक विस्तार दे दे, लेकिन सत्य तो यही रहेगा कि प्रकृति के विस्तार में प्राकृतिक जैविक इकाईयों को उनका प्राकृतिक आचरण करने का मूल अधिकार होता ही है। लेकिन व्यक्ति से इतर अन्य जीव–जगत को असीम स्वतन्त्रता का अधिकार इसके द्वारा निर्मित किसी भी व्यवस्था के अस्तित्व पर ही प्रश्न चिन्ह लगा देगा! सृष्टि में स्वयं को प्राप्त बुद्धि तथा विवेक जैसी प्राकृतिक सम्पदाओं के आधार पर व्यक्ति स्वयंकृत व्यवस्था का स्वयंभू नायक है। जीवन के रक्षण तथा विकास के नाम पर व्यक्ति ऐसी व्यवस्था का निर्माण करता है। मूलतः व्यक्ति ने भी ऐसी व्यवस्था का निर्माण व्यावहारिक जीवन को सन्तुलित बनाए रखने के लिए किया है। लेकिन व्यक्ति के भौतिक विकास की इच्छाओं एवं प्रक्रियाओं ने इसकी व्यवस्था के ढाँचे को बेहद जटिल बना दिया है। अक्सर देखा जाता है कि व्यक्ति अपनी व्यवस्था की परिभाषा समाज के प्राकृतिक स्वरूप के अनुसार नही बल्कि अपनी इच्छाओं के अनुरूप निर्धारित करता है और देशकाल परिस्थिति की कसौटी पर खरी न उतर सकने वाली ऐसी व्यवस्था के द्वारा पैदा होने वाले दिशाहीन द्वन्द में उलझा रहता है। इसका सरल समाधान तो यह है कि किसी भी व्यक्ति कृत व्यवस्था का ढाँचा प्रकृति से समन्वय करने वाला होना चाहिए और यदि किसी परिस्थिति में ऐसा न भी हो पा रहा हो तो ऐसी व्यवस्था का स्वरूप व्यक्ति तथा इसके वर्ग के प्रति उत्तरदायी न होकर समाज के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। व्यक्ति की अभिव्यक्ति अथवा आचरण इस अवधारणा के विपरीत तो नही होने चाहिए अन्यथा व्यक्तिकृत व्यवस्था प्रकृति के लिए उस जंगलराज से भी अधिक घातक सिद्ध होती रहेगी जिसके उन्मूलन के लिए हम अपनी व्यवस्था का ढाँचा बुनते आए हैं। मेरे विचार से अपने गुण–कर्म–स्वभाव के अनुसार सृष्टि में स्वयं को व्यक्त करना प्राणी मात्र की मूल स्वतन्त्रता होती है। लेकिन अभिव्यक्ति का वह प्रकार यदि सृष्टि के जीवन चक्र में अवरोध या असन्तुलन पैदा करता है तो उसे नियन्त्रित करना मनुष्यकृत व्यवस्था का दायित्व होता है।

चार–सम्पत्ति की स्वतन्त्रता :–

व्यक्ति के भौतिक जीवन के प्रबन्ध एवं संचरण के लिए जीविका, जीवन की आवश्यकता है। इसकी प्राप्ति का कोई भी प्रकार हो सकता है लेकिन इसके बिना भौतिक जीवन असम्भव है। वस्तुतः व्यक्ति को जीविका अर्जित करने के दो प्राकृतिक स्त्रोत श्रम तथा बुद्धि के रूप में प्राप्त हैं। व्यक्ति की यथार्थ तक की जीवन पद्धति में ऐसा कोई स्त्रोत विकसित नही हो पाया है कि यह जिसके माध्यम से स्वयं में निहित उत्पन्न होने वाली ऊर्जा को प्रयोग में लाए बिना 'अर्जित' कर सके। व्यक्ति के शरीर में उत्पन्न होने वाली यह उर्जा श्रम तथा बुद्धि के संयुक्त संयोजन के आधार पर अथवा किसी एक के नियोजन से स्वतन्त्र आधार पर भी प्रयोग हो जाए तो विभिन्न विषय–वस्तुओं के सृजन का कारण बन जाती है और प्रयोग में न आए तो शारीरिक निश्क्रियता के रूप में इसका विसर्जन होता रहता है। पर हाँ यह उर्जा प्रयोग में आए अथवा न आए लेकिन जोवन के रहने तक इसकी क्रमिक उत्पत्ति एवं विसर्जन का चक्र कभी नही रूकता। भौतिक जीवन में व्यक्ति इस उर्जा का प्रयोग निर्माण या उत्पत्ति के रूप में करता है तो इसे इसका परिणाम धन के रूप में प्राप्त होता है। वस्तुतः इस सृजन का संग्रहित रूप सम्पत्ति कहलाता है। देखा जाए तो सम्पत्ति व्यक्ति की मूल आवश्यकता नही है किन्तु भौतिक जीवन में जीविका प्राप्ति की व्यवस्था का संचरण इस सम्पत्ति के माध्यम से सहजता पूर्वक हो जाता है और यह सम्पत्ति व्यक्ति के श्रम तथा बुद्धि के नियोजन का परिणाम होती है। इस कारण से सम्पत्ति का सृजन व्यक्ति की मूल स्वतन्त्रता के रूप में स्वीकार किया जाता है। अलबत्ता व्यक्ति का सम्पत्ति का मूल अधिकार सार्वजनिक व्यवस्था के सामने यह मूल प्रश्न भी उत्पन्न करता है कि यदि सम्पत्ति व्यक्ति का मूल अधिकार है तो क्या अपने बौद्धिक तथा अन्य संसाधनों के नियोजन के जरिए असीमित सम्पत्ति संग्रह कर सकता है? हाँ यह ऐसा कर सकता है किन्तु व्यक्ति जिन प्राकृतिक संसाधनो का प्रयोग करके यह सम्पत्ति अर्जित करता है, ये निजी नही हो सकते हैं। इस आधार पर व्यक्ति द्वारा संग्रहित सम्पत्ति पर सार्वजनिक व्यवस्था की कर प्रणाली का अधिभार लगना आवश्यक होता है। जीवन प्रबन्ध हेतु दुनिया मं यथार्थ तक की व्यवस्था पद्धतियों के संचरण के लिए ऐसा करना आवश्यक है किन्तु समाज स्वयंकृत व्यवस्था के द्वारा ऐसे लोगों को कराधान से मुक्ति दे सकता है जिनकी आय का स्रोत केवल शारीरिक श्रम हो, जिसमें बुद्धि एवं पूँजी का नियोजन न हो, इसका कारण यह है कि श्रम की उत्पादन क्षमता बहुत कम होती है। इस प्रक्रिया से संग्रह की अति का दोष प्रसार नहीं पा सकेगा, उलटे इस प्रक्रिया से आर्थिक असमानता के दुष्प्रभावों में कमी ही आएगी।

विश्व की प्रचलित राज्य व्यवस्थाएं एवं उनके स्वरूप :–

सदैव से ही मानव सभ्यता के विकास की यह विडम्बना रही है कि इसने व्यवस्था की स्थापना के लिए 'राज्य' नाम के संगठन को ही उत्तरदायी माना है। आधुनिक विश्व में राष्ट्र/राज्य का स्वरूप भी कठोर राज्य व्यवस्था का ही एक प्रकार है, समाज का स्वरूप नही। वस्तुतः राज्य की स्थापना का व्यावहारिक सच यह है कि राज्य की सम्प्रभुता, व्यक्ति पर समाज की प्रभुता का वैसे ही दमन कर देती है जैसे समाज के प्राकृतिक विस्तार के विरूद्ध भीड़ के अनेक समुदायों द्वारा बनाए गए समाज विरोधी वर्ग समाज की प्रभुता का कर देते हैं, जबकि समाजकृत व्यवस्था व्यक्ति का इकाईगत तथा समाज की सर्वव्यापक प्रभुता को बनाए रखने में सहायक होनी चाहिए। लेकिन सदैव से ही मानव सभ्यता का भौतिक विकास इस अवधारणा के विरूद्ध ही हुआ है। जैसे मानव सभ्यता के विकास का चरमोत्कर्ष कहे जाने वाले इस आधुनिक काल में भी दुनिया के विभिन्न राज्य, राष्ट्रवाद के नाम पर अनावश्यक सामरिक शक्ति का संग्रह करने में जुटे हुए हैं। विचार कीजिए कि वर्तमान दुनियां में अमेरिका, चीन, रूस, ब्रटेन फ्रांस, भारत, पाकिस्तान इस्रायल,

उत्तर कोरिया जैसे परमाणु आयुद्धों से सम्पन्न देशों में से कोई भी दो देश आपस में युद्ध कर लें तो न केवल मानव सभ्यता का बल्कि प्रकृति का अस्तित्व भी दाव पर लग जाएगा! दो राज्यों के बीच शक्ति–सन्तुलन का अभाव कमजोर राज्य के अस्तित्व को संकट में डाल देता है और इन्ही दो राज्यों के द्वारा शक्ति सन्तुलन के नाम पर प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास प्रकृति की जीवन प्रणाली के अस्तित्व पर प्रश्न खडा कर देता है। क्या वैश्विक मानव सभ्यता अपने भौतिक विकास तथा राज्य प्रबन्धन को कभी इस प्रकार भी प्रकृति के प्रति उत्तरदायी बना पाएगी कि मानवता के दृष्टिकोण से यह विश्लेषण करने की आवश्यकता न पडे; अन्यथा सभ्यता के तथाकथित विकास की चर्चा करने की आवश्यकता ही क्या है और व्यक्ति की महत्वाकांक्षाओं की सीमा कहाँ तक हो सकती है? प्राचीन काल से अब तक स्थापित होते रहे दुनिया के विभिन्न समाज तथा राज्य व्यवस्थाओं के ढाँचों का मै जितना भी वैचारिक परिभ्रमण कर पाया हूँ, मेरे विचार से दुनिया की सभी राज्य व्यवस्थाएं शक्ति के केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त पर स्थापित हुई हैं। इनमें से कभी–भी किसी ने भी प्राकृतिक जीवन–चक्र से समन्वय बनाने का प्रयास नही किया है। इसका कारण यह है कि दुनिया में शक्ति संग्रह को भौतिक विकास का मूल कारण माना गया है। यूँ तो दुनिया में तमाम राज्य व्यवस्थाओं को चलाने वाले तथा उन्हें स्वीकार करने वाले अनेक लोग अपनी–अपनी व्यवस्थाओं को परिपूर्ण मानते रहे हैं जो कि लोगों का एक भ्रम ही है। अलबत्ता मेरे विचार से आधुनिक विश्व के अधिकांश देशो में व्यवस्था के चार सिद्धान्त प्रयोग में हैं। जो कि निम्नवत हैं:– एक–भारत का समाज आधारित राज्य व्यवस्था का सिद्धान्त। दो– संगठनात्मक धर्म आधारित राज्य का सिद्धान्त। तीन–पूँजीवादी लोकतन्त्र का सिद्धान्त। चार–मार्क्स का राज्यवादी समाज।

एक–भारत का समाज आधारित राज्य व्यवस्था का सिद्धान्त :–

मानव सभ्यता के विकास के प्रारम्भिक चरण से लेकर यथार्थ तक भारत की समाज तथा राज्य व्यवस्था, दुनिया की अन्य मानव सभ्यताओं के लिए कौतुहल का विषय रही है। दुनिया के अनेक विद्वानों के लिए यह रूढियों तथा अतार्किक परम्पराओं का संयोजन है तो अनेक के लिए मानव सभ्यता के विकास का प्रकृति से समन्वय बनाकर चलने का सबसे सरल स्वरूप। लेकिन मै तो इस विषय की समीक्षा भी व्यवस्था की स्थापना के इस सिद्धान्त के अनुसार ही करता हूँ कि समाज में व्यवस्था के ढाँचे का परिशोधन एवं निर्माण सदैव समाज के यथार्थ स्वरूप अर्थात देशकाल परिस्थिति के अनुसार ही होंना चाहिए। तथाकथित रूप से ईश्वर द्वारा निर्मित व्यवस्था हो या मनुष्यकृत, किसी भी व्यवस्था का ढाँचा सर्वकालिक रूप से उपयुक्त सिद्ध नही हो पाता है; क्योंकि व्यवस्था के उपयुक्त स्वरूप भी समाज का आकार–प्रकार बदलने के साथ परिस्थितियों की तुलना में अपूर्ण अथवा काल–वाह्य सिद्ध हा जाते हैं। मेरे विचार से आवश्यकता पडने पर प्राचीन उपयुक्त व्यवस्था प्रणालियां भी व्यक्ति अथवा समाज को इकाईगत विषयों में यथार्थ के अनुसार समीक्षा करके ही स्वीकार करनी चाहिए। व्यक्ति द्वारा काल–वाह्य हो चुकी व्यवस्था का अंधानुकरण समाज में वर्ग संघर्ष की स्थिति उत्पन्न करता है। इस कथन के परिप्रेक्ष्य में हम जब भारत की उस समाज व्यवस्था की समीक्षा करते हैं जिसमें व्यक्ति का सामाजिक वर्ण उसके प्राकृतिक गुण–कर्म–स्वभाव के अनुसार निर्धारित होता था तो यह विषय यथार्थ में भी समाज के अनुकूल ही सिद्ध होता है। वस्तुतः समाज के ढाँचे के उपयुक्त संयोजन के लिए यह विचार उपयुक्त तो है लेकिन वर्तमान समाज का धार्मिक तथा जातिवादी ढाँचा सर्वथा इसके विरूद्ध रहता है। जबकि भारतीय समाज में धार्मिक संगठनवाद तथा जातिवाद की विकृति समाज व्यवस्था के इस उपयुक्त सिद्धान्त के अनुचित प्रयोग से ही विकसित हुई है। यहाँ पर इस सिद्धान्त की एक सूक्ष्म समीक्षा

करते हैं तो यह तथ्य सामने आता है कि इस तार्किक समाज व्यवस्था के स्वरूप को छिन्न–भिन्न करने का कारण भी भीड की यह अवधारणा बनी कि लोगों ने अवसर के अनुसार पैतृक पेशे को ही अपने स्थायी जाति–वर्ण के रूप में स्वोकार करना आरम्भ कर दिया और अपने इस अनुपयुक्त प्रयास को इस तथ्य के आधार पर न्यायोचित ठहराया कि पैतृकवाद के आधार पर विकसित होने वाली वर्ण व्यवस्था लोगों के लिए विचार, जीविका तथा समाज के नवसृजन का उपयुक्त ढाँचा विकसित करने में सहायक होगी। लेकिन समाज का वैचारिक नेतृत्व करने वाले लोगों की इस अवधारणा ने समाज को सदैव के लिए जटिल तथा अव्यावहारिक जातिवाद की अवधारणा में उलझा दिया। क्योंकि इस व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक बार व्यक्ति की प्राकृतिक योग्यता समाज के कुटिल जातिवादी ढाँचे का ग्रास बनने लगी। अस्त, समाज के विस्तार के अनुसार इसके ढाँचे में जीविका नियोजन के प्रकार तथा श्रेठता के भाव से ग्रस्त लोगों के समाज के नवसृजन के ऐच्छिक प्रबन्ध के उद्देश्य ने एक तार्किक समाज व्यवस्था के प्रकार को रूढ जातिवाद में परिवर्तित कर दिया! यथार्थ का भारतीय जन–मानस इसी विचार को अपने सामाजिक संयोजन का आधार बनाए हुए है। आधुनिक भारत की यह विडम्बना देखिए कि यहाँ सभी लोग पैतृक समाज व्यवस्था के सिद्धान्त के आधार पर निर्मित होने वाले जातीय संगठनो को मौलिक समाज व्यवस्था की आवश्यकता मानते हैं और सभी लोग स्वयं को अपने जातीय संगठन का योग्य प्रतिनिधि। आम भारतीय द्वारा पौषित यह विडम्बना यहीं समाप्त नही होती क्योंकि हमें अपने पैतृक जाति–वर्ण के चरित्र मे वह आभा चाहिए जो केवल उस सामाजिक संयोजन में ही विकसित हो सकती है जिसके निर्माण का आधार व्यक्ति का प्राकृतिक गुण–कर्म–स्वभाव हाता है और अपने व्यवहार में हमें वह समाज व्यवस्था चाहिए जो हमे रूढ जाति–वर्ण आधारित सांगठनिक समाज से प्राप्त होने वाली अप्राकृतिक सुख–सुविधाओं को सरलता पूर्वक प्राप्त कराता रहे! वस्तुतः आधुनिक समाज व्यवस्था का लोकतान्त्रिक ढाँचा भी हमारे समाज की इन दोनों परिस्थितियों के बीच झूलता रहा है। अतार्किक राज्य प्रबन्ध के नीतिगत प्रभाव के कारण चलते स्वतन्त्रता के बाद भारतीय जनमानस न तो अपने प्राकृतिक गुण–कर्म–स्वभाव के आधार पर समाज निर्माण करने के लिए स्वतन्त्र रह सका और न वह अपने जातीय संगठनो को इतना वृहत्तर बना सका कि यह विचार समग्र समाज का नेतृत्व कर सके; और इस सामाजिक असन्तुलन में साम्यवाद, इस्लामवाद, पूँजीवाद जैसे जटिल तथा सामाजिक दृष्टिकोण से विरक्त समाज व्यवस्था के सिद्धान्त व्यक्ति को इसके सामाजिक चरित्र के विस्तार से अलग करते रहे हैं। मै अपने इस विश्लेषण को कभी–भी भारतीय समाज के वर्तमान ढाँचे के प्रति पूर्वाग्रह के रूप में स्वीकार नही करता हूँ बल्कि यह तो हमारे यथार्थ के समाज का सच है। हमारे समाज का यह वर्तमान ढाँचा ही हमे सामाजिक व्यवस्था के लिए निर्मित की गई उस राज्य व्यवस्था से दूर ले गया है जिसका विचार हम प्राचीनकाल से भारत की समाज आधारित राज्य व्यवस्था के रूप में करते आए हैं। मेरे विचार से भारतीय समाज की इस दुर्दशा का कारण भारत की संवैधानिक व्यवस्था का ढाँचा भी है। क्योंकि यह ऐसे लोकतान्त्रिक राज्य का निर्माण ही नही करता जो समाज के प्रति उत्तरदायी हो! आधुनिक भारतीय समाज तथा राज्य की व्यावहारिक स्थिति इस प्रस्तुत गलत ढाँचे के रूप में स्थापित हो गई है –

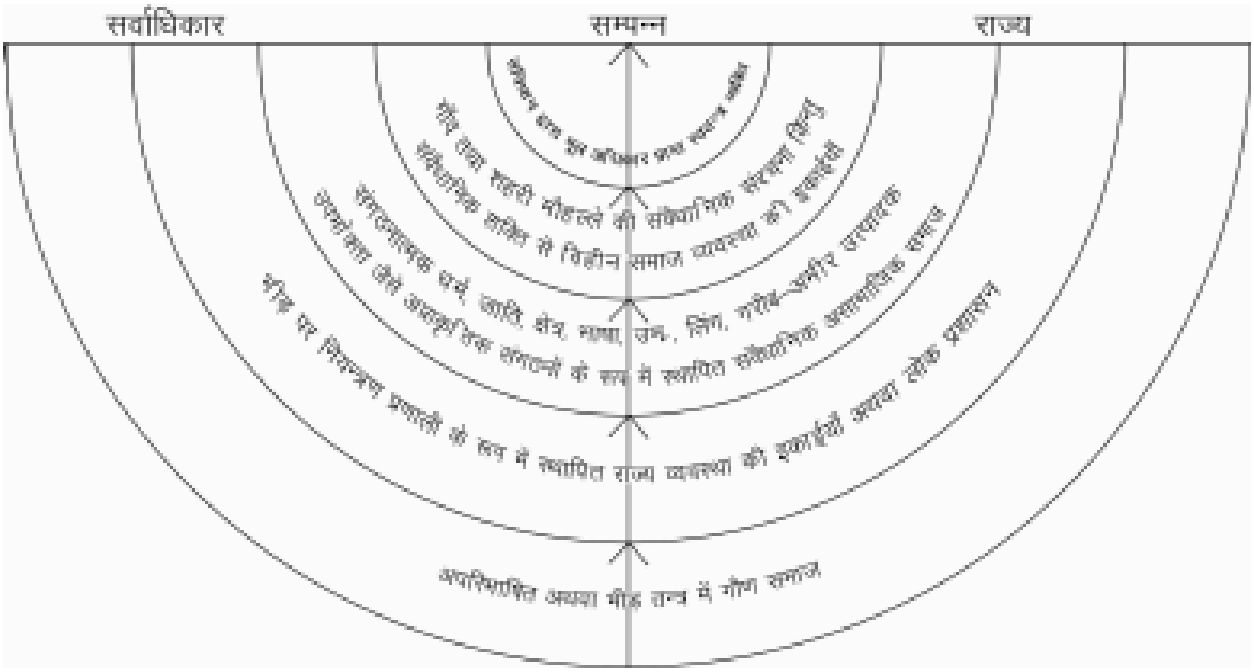

प्रस्तुत ढाँचे के अनुसार भारत के समाज तथा राज्य का स्वरूप अपने–अपने अर्थ के विरूद्ध स्थापित है। यह निश्चित है कि व्यक्ति के जीवन के सामाजिक विस्तार के प्रत्येक पहलू पर राज्य (सरकार); व्यवस्था के नियामक तथा संचलानकर्ता के रूप में स्थापित है। राज्य का यह स्वरूप यह सिद्ध करता है कि भारतीय समाज को राज्य ने स्वयं में विलीन कर लिया है। इस कारण से भारत के सामाजिक तथा राज्यतन्त्र के व्यावहारिक पटल का अध्ययन करके यह तथ्य स्वीकारने में मै कोई कौताही नही बरतूँगा कि हमारे समाज तथा राज्य का ढाँचा लेशमात्र भी लोकतान्त्रिक नही है! व्यक्ति, समाज, धर्म, राज्य तथा इसके प्रशासनिक अंग जैसी लोकजीवन की प्राकृतिक तथा व्यवस्थागत इकाईयों में ऐसी कोई इकाई नही है जिसमें नित्य–प्रति इकाई से सम्बन्धित व्यवस्था में अनुशासन का उलंघन न होता हो! भारत के सम्पूर्ण तन्त्र में कहीं भी कोई इकाई न व्यवस्था के प्रति उत्तरदायी है और न समाज के! देश में इस स्थिति के विकसित होने का सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि भीड तथा राज्य, समाज की संरचना की परिभाषा के अनुसार क्रमशः समाज तथा इसकी प्रबन्धक इकाई के रूप में निर्मित ही नही होते हैं। व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो हमारी संवैधानिक व्यवस्था में न तो परिवार, गाँव तथा समाज जैसी सामाजिक इकाईयों के प्राकृतिक स्वरूप को स्थान दिया गया है और न इनकी कोई विधिक संरचना ही की गई है। इसके विपरीत भीड के अप्राकृतिक वर्गों का 'निजता' का अधिकार, विधिक आधार पर इस प्रकार सरक्षित किया गया है कि इसका कोइ भी वर्ग, निहित स्वार्थ के लिए जब चाहे तब समाज तथा राज्य के अस्तित्व को चुनौती दे देता है। अर्थात भीड के वर्ग स्वयं को ही सम्प्रभु समाज मानने लगे हैं। भीड के वर्गों की ऐसी अवधारणा बन जाने के कारण हमारे सामाजिक ढाँचे का कोई भी वर्ग तथा तन्त्र का कोई भी निकाय किसी भी परिस्थिति में परस्पर रूप से एक दूसरे के प्रति उत्तरदायी सिद्ध नही हो पाता है। जबकि ये सभी वर्ग तथा निकाय जीवन यापन की उर्जा, किसी न किसी प्रकार समाज के सामाजिक स्वरूप से ही प्राप्त करते हैं। हमारे समाज में विकसित हो चुकी इस परिस्थिति को नियन्त्रण में रखने के लिए 'राज्य' अपने विभिन्न निकायों के द्वारा या तो भीड के विभिन्न वर्गों को नियन्त्रित करता है अथवा अपने अस्तित्व पर संकट बन जाने की स्थिति में किसी वर्ग का

वैचारिक एवं बलात दमन भी करता है। स्वतन्त्रता के बाद के काल में आपातकाल, नकस्लवाद, आरक्षण का पक्ष तथा विरोध, राम मन्दिर संघर्ष, नागरिकता संशोधन कानून जैसे विषयों का पक्ष तथा विरोध जैसे अनेक मुद्दे इस परिस्थिति के उदाहरण हैं। इन मुद्दों के पक्ष तथा विरोध में भीड के अनेक झुंड अपने जातीय हितों के संरक्षण क लिए जातीय संघर्ष करते रहे हैं और राज्य ने अवसर का लाभ उठाते हुए राष्ट्रीय अस्मिता तथा लोकहित के नाम पर समाज के शीर्ष पर अपना आसन स्थापित कर लिया है। प्रस्तुत व्यवस्थाक्रम में समाज की इसी दशा को स्थापित किया गया है। यथार्थ में भारत के जन–मानस तथा समाज की व्यावहारिक दशा इस प्रकार बन गई है कि भीड का प्रत्येक उपक्रम स्वयं को राज्य में निहित कर देने के लिए लालायित दिखता है। क्या व्यक्ति को समाज का व्यवस्था–चक्र बनाए रखने के लिए ऐसा कोई भी प्रयास करने की लेशमात्र भी आवश्यकता हो सकती है? वस्तुतः सम्पूर्ण समाज के ढाँचे में सन्तुलन बनाने के लिए तन्त्र तथा समाज की इकाईयों में क्रमानुसार परस्पर समन्वय होना ही चाहिए और यह समन्वय केवल तब स्थापित हो सकता है जब समाज तथा व्यवस्था की इकाईयां अपने–अपने विस्तार क्रम के अनुसार एक दूसरे के प्रति उत्तरदायी बनें। मूलतः भारत का समाज आधारित राज्य व्यवस्था का सिद्धान्त ऐसे ही समाज तन्त्र की संरचना प्रस्तुत करता रहा है; जिसे भारत के भीड तन्त्र ने समाज पर राज्य के वर्चस्व की स्थापना के लिए विस्मृत कर दिया है।

दो–संगठनात्मक धर्म आधारित राज्य का सिद्धान्त :–

वर्तमान दुनिया में मनुष्यकृत समाज तथा राज्य व्यवस्था के निर्माण का सर्वाधिक उदण्ड सिद्धान्त 'संगठनात्मक धर्म' है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति स्वयं संगठनात्मक धर्म की उत्पत्ति का कारण ऐसे ईश्वरवाद को मानता रहा है जो व्यक्ति के अस्तित्व तथा समाज की संरचना को प्राकृतिक न मानकर अपने अनुयाई तथा सम्प्रदाय के रूप में स्वीकार करता है। वस्तुतः व्यक्ति अपने ईश्वर को प्रकृति के कर्ता के रूप में स्वीकार करता है; जबकि प्रकृति की संरचना का सिद्धान्त यह है कि प्रकृति स्वयं से उत्पन्न है और स्वयं में ही लीन है। यदि ईश्वर इसका कर्ता है भी तो उसके अस्तित्व की परिकल्पना का प्रकार भी प्रकृति की संरचना के इसी सिद्धान्त पर आधारित हो सकती है; अन्य कुछ नही। क्या ऐसे ईश्वरवाद का नरतत्व प्रकृति का नायक बन सकता है? अस्तु हमारा लोक व्यवहार यह स्पष्ट करता है कि न तो कोई भी अनुयाई किसी नए एवं स्वतन्त्र विचार को स्वीकार करता है और न सम्प्रदाय, क्योंकि कोई भी सम्पदाय तथा उसका अनुयाई यदि किसी नए तथा स्वतन्त्र विचार को स्वीकार करेगें तो सम्प्रदाय अथवा संगठनात्मक धर्म की स्थापित व्यवस्था का तो अस्तित्व ही खतरे में पड जाएगा; तब भी विभिन्न मत–मतान्तरों को मानने वाले लोग अक्सर यह कहते हैं कि ईश्वर एक है, सार्वभौम है; लकिन आश्चर्य यह है कि यही लोग अपने संगठनात्मक धर्म के अनुयाई बनकर इस सिद्धान्त का व्यावहारिक क्रियान्वयन इसके अनुसार नही करते हैं। वस्तुतः संगठनात्मक धर्म के सिद्धान्त ने सार्वभौम ईश्वर की मान्यता को साम्प्रदायिक मान्यता में बदल दिया है। जिसके प्रारूप में व्यक्ति के धर्म को पहचान उसके लक्षण के अनुसार न होकर उसकी पूजा–पद्धति, वेश–भूषा जैसे पहचान प्रधान कारणों से होने लगी। व्यक्ति की ऐसी मान्यताओं ने वृहत्तर समाज में अनेक संगठनात्मक धर्म स्थापित कर दिए हैं। अलबत्ता यह विषय तब तक भी ठीक हो सकता था कि व्यक्ति का संगठनात्मक धर्म इसकी समाज व्यवस्था की संरचना और व्यावहारिक प्रबन्ध तो करता रहता लेकिन राज्य व्यवस्था का प्रबन्ध नही करता। जैसे कि भारत में 'बौद्ध संगठनात्मक धर्म' के साथ हुआ। 'बुद्ध' ने अपनी शिक्षाओं में समाज के सामने जो नरतत्व प्रस्तुत किया उसके अनुसार बुद्ध की शिक्षाएं व्यक्ति–मात्र के लिए थी, वे किसी राज्य–व्यवस्था के लिए नही थी। भले ही बुद्ध के अनुयाईयों ने उनकी

शिक्षाओं को अपने राज्य के संगठनात्मक धर्म के रूप में स्वीकार भी किया हो! दूसरी ओर भारत में संगठनात्मक धर्मों का विकास एवं राज्य द्वारा उन्हें राज–धर्म के रूप में स्वीकार करने को 'अतार्किक समाज व्यवस्था' माना जाता रहा है। बौद्ध धर्म के विस्तार के समय भी ऐसा ही हुआ। वस्तुतः धार्मिक संगठनवाद ईश्वर के सार्वभौम स्वरूप की अवधारणा का पतन कर देता है, यह स्वतन्त्र व्यक्ति को अनुयाई बना देता है। दुनिया में संगठनात्मक धर्म के सिद्धान्त के प्रचार–प्रसार के पूर्व में भी और पश्चात में भी भारत का लोक–मानस संगठनात्मक धर्म अथवा साम्प्रदायिकता अथवा धर्मान्धता का मुखर विरोधी रहा है। ऐसा होने के कारण ही भारतीय लोक–मानस ने दुनिया को व्यवस्था के लिए 'स्वराज्य' का मूल चिन्तन दिया है। भारत में जब बौद्ध धर्म की मूल शिक्षाएं संगठनात्मक धर्म बनकर जन समुदाय को गुणात्मक धर्म से विरक्त करने लगीं तो भारतीय विचार अनुसंधान की परम्परा में 'आदि शंकराचार्य' जैसा विचार का ऋषि उत्पन्न हुआ, जिसने संगठनात्मक धर्म के सामाजिकताहीन स्वरूप को पुनः ठीक दिशा प्रदान की। लेकिन दुनिया में इसाई धर्म अपनी स्थापना के बाद से तथा इस्लाम का तो सृजन ही धर्म के सिद्धान्त के आधार पर जन समुदाय के राज्य के प्रति समर्पण के लिए हुआ है। वस्तुतः दुनिया में इसाई तथा इस्लाम के अनुयाईयों के बीच हुए धार्मिक (क्रुसेड) युद्धों ने संगठनात्मक धर्म को राज्य के निर्माण का सुदृढ आधार बना दिया। कालान्तर में इसाईयत के अधिकांश अुनयाईयों ने लोकतन्त्र को अपनी व्यवस्था पद्धति में स्वीकार करके समाज व्यवस्था के इस कठोर सिद्धान्त को कुछ लचीला बनाया है किन्तु इस्लाम के अनुयाईयों ने समाज तथा राज्य व्यवस्था के विषय में देशकाल परिस्थिति के अनुसार अपनी धार्मिक नीतियों में कोई बदलाव नही किया है। आधुनिक विश्व में ईरान तथा तुर्की जैसे लोकतान्त्रिक देश भी रूढ धार्मिक व्यवस्था की तरफ यूँ ही झुकते चले जा रहे हैं। वस्तुतः संगठनात्मक धर्म की कार्य प्रणाली ने समाज की प्राकृतिक संरचना को ध्वस्त कर दिया है। तात्कालिक दुनिया में संगठनात्मक धर्म के सिद्धान्त के अनुसार इस्लामिक देश अपने राज्य क्षेत्रों में सर्वाधिक असहिष्णु राज्य व्यवस्था का प्रबन्ध कर रहे हैं। मूलतः संगठनात्मक धर्म के आधार पर निर्मित होने वाली व्यवस्था एक बन्द व्यवस्था होती है, जिसमें व्यक्ति के पास धर्म तथा राज्य की तुलना में अभिव्यक्ति तथा स्वनिर्णय का कोई अधिकार नही होता है। इस प्रकार की राज्य व्यवस्था व्यक्ति को 'धर्म' की सम्पत्ति के रूप में स्वीकार करती है और इस सिद्धान्त पर आधारित व्यवस्था के वर्चस्व में जीवन निर्वाह करने वाला व्यक्ति जीवन अभ्यास, आवश्यकता पूर्ती एवं सुविधा प्राप्ति के लिए राज्य सत्ता को जिस समर्पण भाव से स्वीकार करता है वह सत्ता के पक्ष में शक्ति का अभूतपूर्व केन्द्रीयकरण करा देती है। ऐसा राज्य अपने अस्तित्व तथा अहम की रक्षा के लिए अपने स्वरूप में देशकाल परिस्थिति के अनुसार कोई परिवर्तन नहीं करता है। दूसरी ओर समाज के ढाँचे का विस्तार तथा आधुनिकता ऐसी राज्य व्यवस्था को काल–वाह्य सिद्ध कर देते हैं। इन दोनों परिस्थितियों के बीच बढता हुआ असन्तुलन राज्य को उदण्ड बना देता है। क्योंकि ऐसी परिस्थिति में भी ऐसा शक्तिशाली राज्य सामाजिक सन्तुलन बनाने के प्रति उत्तरदायी व्यवस्था बनाने के स्थान पर धर्म परिवर्तन, धार्मिक राज्य, धार्मिक आतंकवाद, रहन–सहन, शिक्षा, व्यवसाय जैसे विषयों में संगठनात्मक धर्म का अनावश्यक प्रभाव बढाता है जिसके परिणाम स्वरूप ऐसे राज्य की उदण्डता बढतो है।

प्रस्तुत विषय की समीक्षा यह प्रश्न भी उत्पन्न करती है कि क्या दुनिया के सभी संगठनात्मक धर्म यथार्थ की कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं? मेरे विचार से समाज के वृहत्तर स्वरूप में खुद समाज देशकाल परिस्थिति के अनुसार व्यवस्था के उपयुक्त ढाँचे का अनुसंधान और विकास करता रहता है। विश्व में विभिन्न संगठनात्मक धर्मों (सम्प्रदायवाद) की उत्पत्ति एवं विकास की जो परिस्थितियां रही हैं, उनके अनुसार ऐसी व्यवस्था का विकसित होना स्वाभाविक था और व्यवस्था

के निर्माण का मूल सिद्धान्त भी यही है; इनका ढाँचा देशकाल परिस्थिति के अनुसार ही निर्मित होना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार एक कालखण्ड में संगठनात्मक धर्म की व्यवस्था जहाँ समाज के लिए उपयुक्त सिद्ध होती है तो कालान्तर में यथार्थ का बदला हुआ स्वरूप इसे काल–वाह्य सिद्ध कर देता है। विभिन्न कालान्तर में संगठनात्मक धर्म के सिद्धान्त के आधार पर राज्यों के निर्माण और हिंसा की विभिन्न श्रंखलाओं ने मानव सभ्यता को बार–बार धूल–धूसरित किया है। इस आधुनिकतम युग में भी संगठनात्मक धर्म के सिद्धान्त ने समाज का ढाँचा कितना फूहड, हास्यास्पद और घिनौना बना दिया है कि दुनिया में अनेक संगठनवादी धर्मो के अनुयाई एक–दूसरे धर्म के अनुयाईयों की पूजा–पद्धति तथा श्रद्धा के विषयों के परिवर्तन में ही उनका उद्धार खोजते रहते हैं! मेरे विचार से आधुनिक युग में धर्म–परिवर्तन तथा धार्मिक–राज्य जैसे विषय मानव असभ्यता के प्रतिमान हैं। यह विषय व्यक्ति की व्यक्तिशय स्वतन्त्रता तथा सामाजिक जीवन को ऐसी अन्ध–श्रद्धा के खूंटे से बांध देता है जिससे व्यक्ति के प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक स्वावलम्बन का पतन हो जाता है। यद्यपि यह विषय इसाई, हिन्दु, बौद्ध जैसे धर्मो को भी अपना संगठनात्मक ढाँचा मजबूत करने के प्रति उत्तेजित करता रहा है लेकिन ये धर्म–संस्कृतियां अपने धर्म में रहते हुए किसी अन्य के धार्मिक संस्कार को स्वीकार करने को उस तरह निषेध नही मानती हैं जिस तरह इस्लाम की व्यवस्था मानती है। अपने धार्मिक संस्कारों को मानने के विषय में इस्लाम के अनुयाई अन्य धार्मिक मतावलम्बियों की तुलना में बहुत ज्यादा कट्टर होते हैं, ये लोग अपनी धार्मिक रूढ़ियों के विषय में कोई यथार्थपरक परिवर्तन करने हेतु विचार करने के लिए भी तैयार नही होते हैं। धार्मिक संगठनवाद तथा इस्लाम की सैद्धन्तिक संरचना के अनुसार संगठनात्मक धार्मिक राज्य प्रस्तुत क्रम में निर्मित होता है :–

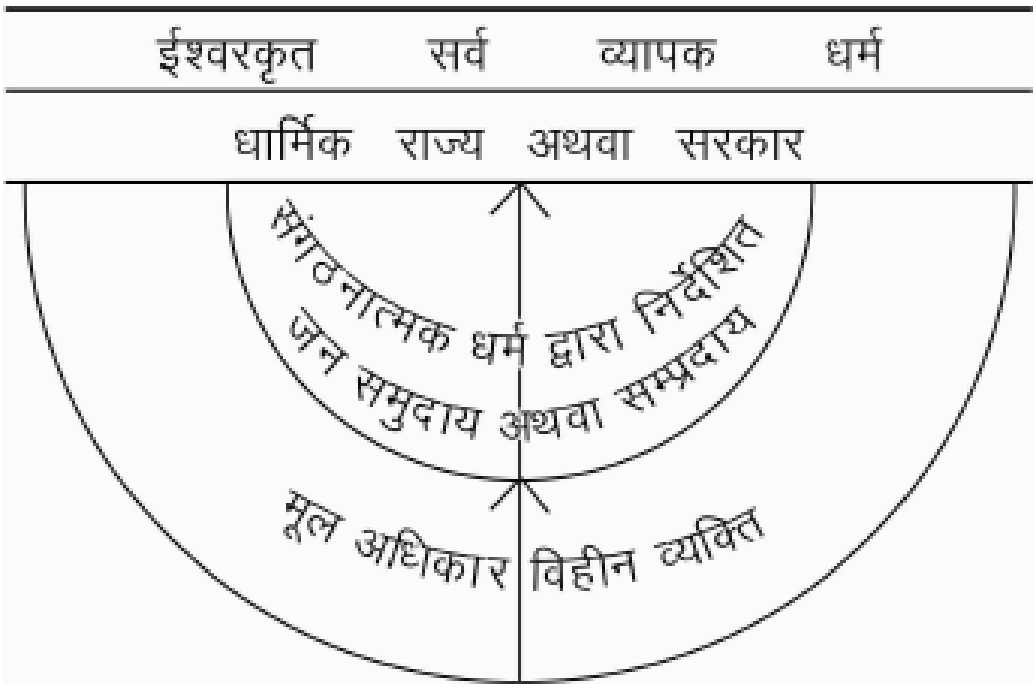

वस्तुतः संगठनात्मक धर्म के सिद्धान्त पर निर्मित राज्य अपने अधिकार क्षेत्र में निवास करने वाले व्यक्ति को उसके मूल अधिकार से वंचित कर देता है। ऐसा राज्य, व्यक्ति को चाहे कितनी

भी अधिक सुविधाएं क्यों न प्रदान करे, किन्तु व्यक्ति उसके लिए किसी सुविधा भोगी सामग्री से अधिक कुछ नही होता है। इसलिए धार्मिक संगठनवाद के विस्तार की अवधारणा कठोर एवं उदण्ड राज्य का निर्माण करती है। लोक व्यवहार में यह प्रदर्शित होता है कि दुनिया में तमाम धार्मिक संगठनवादी तथा इस्लामिक राज्य शक्ति संग्रह एवं न्यायिक विषयों में कठोर एवं उदण्डता का ही व्यवहार करते हैं। यदि भारत भी कभी धार्मिक राज्य की अवधारणा को स्वीकार करता है तो यह भी उदण्ड एवं कठोर राज्य ही सिद्ध होगा।

तीन–पूँजीवादी लोकतन्त्र का सिद्धान्त –

व्यावहारिक धरातल पर मानव समाज की व्यवस्था का यह आधुनिकतम सिद्धान्त हमार सामने दो दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है; एक–मानव सभ्यता का क्रमिक विकास इस विषय का साक्षी रहा है कि व्यक्ति सदैव से ही अपनी व्यवस्था को यथार्थ के अनुसार बनाने के प्रयास करता रहा है। दो–लोकतन्त्र सहित अभी तक ज्ञात राज्य व्यवस्था के तमाम सिद्धान्त श्रम शोषण को महत्व देत हैं। इस विवेचना में दोनों कथन व्यवस्था के निर्वहन में आने वाली चुनौतियों से हमें अवगत करते हैं। पहला दृष्टिकोण व्यक्ति के सामने सदैव यह चुनौति जीवित रखता है कि व्यक्ति को अपनी व्यवस्था में देशकाल परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन करते रहने चाहिए ताकि जीवन सन्तुलित अवस्था में व्यतीत होता रहे। व्यक्ति के लिए इसकी व्यवस्था के उचित प्रबन्धन की इच्छा ही इसे स्वतन्त्रता तथा अधिपत्य, सृजन एवं पतन के गुण–धर्म की व्याख्या करने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रेरणा के आधार पर ही व्यक्ति ने राजतन्त्र, धार्मिक राज्य, साम्यवाद, अधिनायकवाद, लोकतन्त्र जैसे अनेक राज्य व्यवस्था के सिद्धान्तों का विकास किया है। इस विवेचना का दूसरा दृष्टिकोण यह महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न करता है कि क्या लोकतन्त्र भी श्रमशोषण के विचार से मुक्त नही है, और यदि ऐसा है तो क्यों और कैसे? वस्तुतः लोकतन्त्र के मौलिक स्वरूप पर विचार करें तो इसका वैचारिक आधार व्यक्ति की मूल (प्राकृतिक) स्वतन्त्रता की रक्षा करना है, इसके लिए भौतिक सुविधाएं उपलब्ध कराना नही। वस्तुतः लोकतान्त्रिक व्यवस्था की संरचना का आधार समाज में ऐसे वातावरण का विकास करना होता है कि व्यक्ति परस्पर व्यवहार में परस्पर स्वतन्त्रता का ढाँचा न तोडते हुए भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ती के लिए स्वतन्त्र स्पर्धा करे अर्थात व्यक्ति तथा व्यवस्था का यह समन्वय समाज की जीवन पद्धति में लोकतन्त्र का प्रसार कर देता है। इसलिए लोकतान्त्रिक व्यवस्था पद्धति का उद्देश्य समाज पर शासन करना नही बल्कि उस प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता की रक्षा करना होता है जो समाज के सन्तुलन तथा व्यवस्था की मर्यादाओं का पालन करते हुए जीवन निर्वाह करता है तथा उस प्रत्येक व्यक्ति पर नियन्त्रण करना होता है जो व्यवस्था के नियमों का पालन नही करता। लेकिन यह विचार तो लोकतन्त्र की संरचना का सिद्धान्त है, यदि हम इस दृष्टिकोण के आधार पर लोकतन्त्र की समीक्षा करेगें तो फिर तो लोकतान्त्रिक व्यवस्था श्रम शोषण के सिद्धान्त को महत्व नही दे सकती है। वस्तुतः न केवल लोकतन्त्र बल्कि व्यवस्था का प्रत्येक सिद्धान्त मौलिक आधार पर किसी न किसी आदर्श दृष्टिकोण पर ही आधारित होता है। प्रश्न तो इन सिद्धान्तों के आधार पर निर्मित होने वाली व्यवस्था के क्रियान्वयन के समय उत्पन्न होते हैं अथवा प्रश्न समाज की वे दशाऐं उत्पन्न करती हैं जो सम्बन्धित सिद्धान्त पर आधारित व्यवस्था के क्रियान्वयन से पैदा होती हैं। इस प्रश्न के स्पष्टीकरण हेतु हमें लोकतन्त्र तथा राज्य व्यवस्था के अन्य सिद्धान्तों की संरचना पर एक बार पुनः विचार करना होगा। इस विषय की सूक्ष्म समीक्षा करते हैं तो लोकतन्त्र तथा व्यवस्था के अन्य सिद्धान्त राजतन्त्र, साम्यवाद, धार्मिक राज्य, अधिनायकवाद के पास भी अपनी उत्पत्ति एवं विस्तार का कोई न कोई आदर्श दृष्टिकोण होता ही है; तभी तो आधुनिक दुनिया से भी व्यवस्था के इन कुटिल तथा अव्यावहारिक सिद्धान्तों का

उन्मूलन नही हो सका है। जैसे राजतन्त्र में राजा, न्याय तथा सुरक्षा का प्रदाता होता है तथा इस सिद्धान्त पर आधारित व्यवस्था का यह गुण होता है कि यह व्यवस्था प्रणाली बहुत लम्बी नही होती। धार्मिक राज्य की यह मान्यता होती है कि यह ईश्वर की आज्ञानुसार स्थापित होता है; इसलिए इसके व्यवस्थागत ढाँचे की समीक्षा का प्रश्न ही पैदा नही होता है, इत्यादि। लेकिन मेरी समीक्षा में लोकतन्त्र से इतर राज्य व्यवस्था के सभी सिद्धान्त मूलतः संगठनवाद पर आधारित होते हैं; इनके आधारभूत ढाँचे का निर्माण जनसमुदाय की प्राकृतिक शक्ति के बलपूर्वक अधिग्रहण से होता है; ऐसी व्यवस्था का संचालन जनसहभागिता के आधार पर नही होता बल्कि बल पूर्वक होता है; धन इनकी दूसरी प्राथमिकता होती है। कोई संगठनवादी व्यवस्था व्यक्ति को चाहे जितनी भी सुविधाएं क्यों न उपलब्ध कराए लेकिन यह व्यक्ति को उसकी प्राकृतिक स्वतन्त्रता नही भोगने देती है। इसलिए समाज में इन्हें अच्छी व्यवस्था के रूप में स्वीकार नही किया जाता है। दूसरी ओर लोकतान्त्रिक व्यवस्था का प्रारूप है; जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है कि लोकतन्त्र की मूल अवधारणा व्यक्ति को स्वतन्त्रता पहले और सुविधा बाद में के आधार पर विकसित होती है। यह तर्क हमारे सामने पुनः यह प्रश्न उत्पन्न करता है कि लोकतन्त्र का ऐसा स्वरूप श्रम–शोषण का सिद्धान्त कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का सरल स्पष्टोकरण यह है कि मूलतः समाज में लोकतन्त्र का लोकतान्त्रिक स्वरूप श्रमशोषण की दशाओं का विकास नही कर सकता है अथवा उपरोक्त विश्लेषण में लोकतन्त्र के इसी स्वरूप की विवेचना की गई है। लेकिन यह भी सच है कि दुनिया के अनेक लोकतान्त्रिक देशों में श्रमशोषण एवं आथिक असमानता अथवा पूँजी का केन्द्रीयकरण बडे पैमाने पर होता है। भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश, श्रीलंका जैसे अनेक विकासशील देश इसके उदाहरण हैं। लोकतान्त्रिक ढंग से अपनी व्यवस्था चलाने वाले देशो में ऐसा होने का मूल कारण यह है कि इनकी व्यवस्था अर्थात शासन पद्धति तथा समाज की जीवन पद्धति में लोकतन्त्र नही है। एक बुनियादी विचार करें तो शासन पद्धति का लोकतन्त्र अपने लचीले एवं परिस्थितियों के विरोधाभाषी लोकतान्त्रिक स्वरूप के कारण ऐसे लोगों को नियन्त्रित नही कर पाता है जो व्यवस्था के लचीले स्वरूप का निहित स्वार्थो में दुरउपयोग करते हैं। स्वतन्त्र भारत की लोकतान्त्रिक व्यवस्था में हुए अनेक आर्थिक घोटाले, व्यवस्थागत भ्रष्टाचार, पूँजी का केन्द्रीयकरण इस विषय के उदाहरण हैं। व्यवस्था का ऐसा परिणाम समाज के स्वभाव में असन्तोष को बढावा देता है। इसलिए समाज में इस खराब दशा के विकसित होने के लिए व्यवस्था ही उत्तरदायी होती है।

वस्तुतः समाज में लोकतान्त्रिक व्यवस्था का दो दशाओं में सुचारू संचालन हो सकता है, इनमें पहली तथा आदर्श दशा यह है कि जब भीड की जीवन पद्धति तथा व्यवस्था का नियमन तथा क्रियान्वयन पूर्ण रूपेण लोकतान्त्रिक हो तथा दूसरी तथा व्यावहारिक दशा यह हो सकती है कि जब समाज तथा तन्त्र का ढाँचा इस प्रकार निर्मित हो कि व्यवस्था तथा व्यक्ति हर कसौटी पर नियमानुसार अपने कार्य के प्रति उत्तरदायी हो! समाज की मौजूदा परिस्थितियों के अनुसार पहली दशा तो एक कल्पना भर है, जिसके साकार हाने का यह अर्थ होगा कि फिर तो किसी को व्यवस्था तन्त्र के निर्माण की आवश्यकता ही नही रहेगी, बल्कि व्यक्ति का आचरण ही व्यवस्था का रूप धारण कर लेगा। इस विमर्श में जिस दूसरी दशा का जिक्र किया गया है उसके अनुसार दुनिया भर के देशों में ऐसी व्यावहारिक व्यवस्था का ढाँचा विकसित नही किया गया है जिसके अनुसार व्यवस्था तथा व्यक्ति को उसकी कसौटियों के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सके! इसलिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता, जीवन प्रणाली तथा व्यवस्था के ढाँचे में कोई समन्वय नही बन पाया है अथवा व्यक्ति अभी व्यवस्था का ऐसा स्वरूप ही नही बना पाया है। इसके विपरीत व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा व्यवस्था के ढाँचे में समन्वय का अभाव लोकतन्त्र जैसी समन्वयक व्यवस्था पद्धति को आर्थिक

असमानता की दशा में श्रम–शोषण की तरफ धकेल देता है तथा नेतृत्व वर्ग की राजनीतिक उच्चाकांक्षा के कारण व्यक्ति के मूल अधिकार को राज्य–शक्ति के रूप में परिवर्तित करके तथा राज्य द्वारा समाज में सन्तुलन बनाने की दशा में अनावश्यक लोक–लुभावनी योजनाओं की तरफ धकेल देता है। समाज में इन दशाओं के विकसित होने के कारण लोकतान्त्रिक सरकारें समाज के विभिन्न वर्गों को संरक्षण देने वाले अनावश्यक कानूनों का निर्माण करती हैं, जिसके फलस्वरूप समाज में वर्ग–संघर्ष पनपता है और लोकतन्त्र असफल सिद्ध होता है। इस दशा का लोकतन्त्र ही समाज में श्रम–शोषण के सिद्धान्त को बढावा देता है। यह भटकाव भरा लोकतन्त्र एक ओर जहाँ जनहित के ढकोसलों पर आधारित राज्य की नीतियां बनाता है तो दूसरी ओर इन नीतियों के संरक्षण के लिए समाज को पूँजीवाद तथा पूँजीपतियों के हाथ की कठपुतली बना देता है। क्योंकि एक ओर जहाँ दुनिया की अन्य सिद्धान्तों पर आधारित व्यवस्था समाज को बाहुबल से चलाती हैं तो लोकतान्त्रिक व्यवस्था उसी कार्य को धन बल से संचालित करती हैं। ऐसी दशा में समाज में लोकतान्त्रिक व्यवस्था का दृश्य कुछ इस प्रकार स्थापित हो गया है –

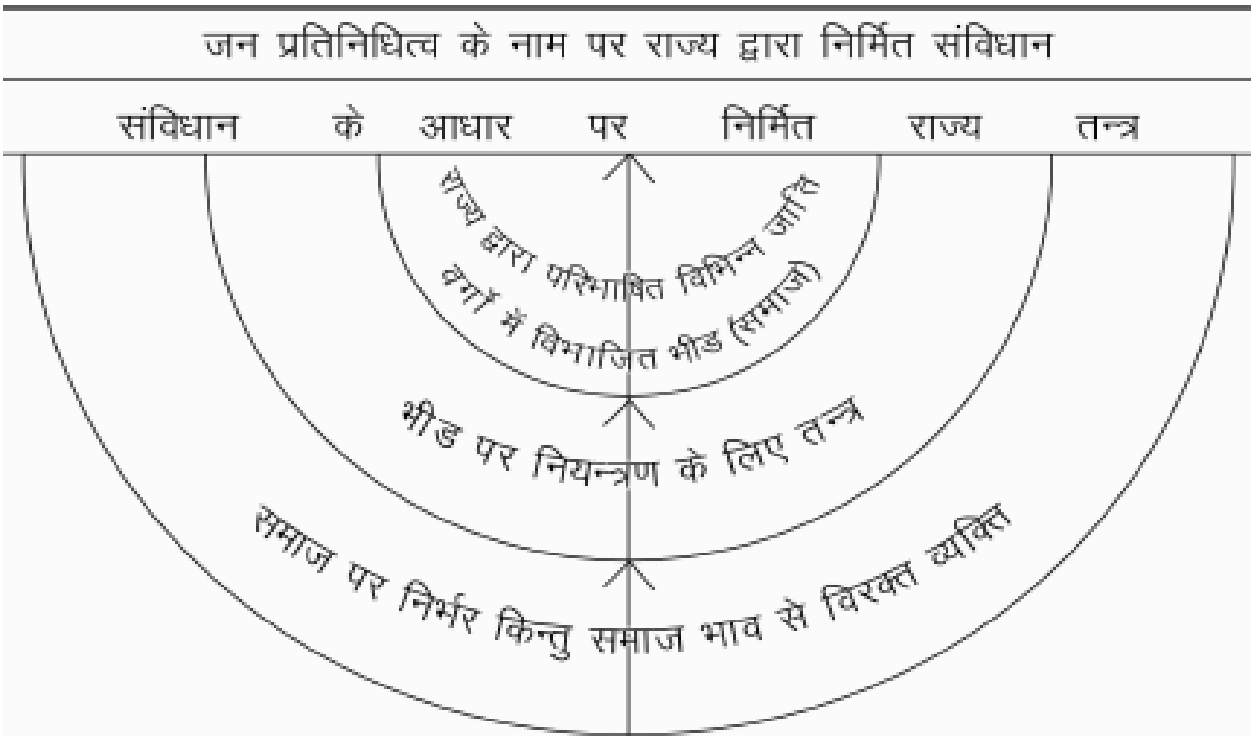

आधुनिक लोकतान्त्रिक व्यवस्था में समाज तथा राज्य व्यवस्था का न कोई सैद्धान्तिक क्रम निर्मित है और न व्यावहारिक। इसमें व्यक्ति को समाज तथा राज्य के दृष्टिकोण से असीम स्वतन्त्रता प्राप्त है; लेकिन वही व्यक्ति, समाज में व्यक्ति न रहकर संगठनात्मक धर्म अथवा सम्प्रदाय का अनुयाई एवं जाति, क्षेत्र, भाषा तथा लिंग भेद आदि वर्गों का प्रतिनिधि तो अवसर के अनुसार होता है लेकिन वह समाज की इकाई तो शायद ही कभी होता है! जब तक व्यक्ति समाज व्यवस्था की इकाई नही होता अथवा समाज का अस्तित्व ही विभिन्न वर्गों में विभाजित होता है तब तक समाज में लोकतन्त्र की स्थापना का हर प्रयास बेमानी होता है। समाज की ऐसी दशा के अनुसार ही लोकतान्त्रिक व्यवस्था का ऐसा क्रम बन गया है। लोकतन्त्र के इस क्रम के अनुसार व्यक्ति, समाज

तथा राज्य–व्यवस्था की कौन सी इकाई कब किसी भी अन्य इकाई पर वर्चस्व की स्थापना का प्रयास करने लगती है, इस बारे में कुछ नही कहा जा सकता है! किन्तु यह भी उपयुक्त तथ्य नही है कि यदि समाज का स्वरूप लोकतान्त्रिक न हो तो हमे व्यवस्था को लोकतान्त्रिक बनाने का प्रयास नही करना चाहिए? वस्तुतः विचार विश्लेषण का यह परिप्रेक्ष्य हमे इस दृष्टिकोण से भी अवगत कराता है कि विश्व के वे सभी देश जिनम लोकतान्त्रिक व्यवस्था है अथवा जिनका राज्य–व्यवस्था–तन्त्र किसी अन्य सिद्धान्त के अनुसार स्थापित है, सभी देशों को परस्पर व्यवहार में लोकतान्त्रिक होना ही चाहिए। लेकिन वर्तमान विश्व में न केवल भारत बल्कि सम्पूर्ण विश्व व्यावहारिक लोकतन्त्र के विरूद्ध है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण यह है कि विश्व के आर्थिक सम्पन्न देश अन्य देशों पर आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक वर्चस्व की स्थापना के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, ऐसे देशों ने दुनिया भर के बाजार की आर्थिक शक्ति का अपने पक्ष में केन्द्रीयकरण करके वैश्विक समाज में आर्थिक असन्तुलन को बढाया है। दूसरी ओर जो कमजोर देश हैं वे अपनी आन्तरिक व्यवस्था को ही लोकतान्त्रिक नही बना पा रहे हैं; अर्थात वैश्विक समाज में लोकतान्त्रिक व्यवहार तथा व्यवस्था के ढाँचे में लोकतन्त्र का अभाव रहता है। वैश्विक समाज में ऐसी परिस्थितियों के कारण श्रम–शोषण तथा सामाजिक विग्रह के अवसर पनपते हैं। इस दशा में व्यक्ति तथा समाज के व्यवस्था–क्रम तथा राज्य व्यवस्था के व्यवस्था–क्रम का आपस में कोई समन्वय नही बन पाता है। अथवा समाज तथा राज्य व्यवस्था के सभी अभिकरण अवसर के अनुसार अपने हित साधने में लगे रहते हैं। लेकिन यह विश्लेषण पुनः यह प्रश्न उत्पन्न करता है कि व्यक्ति, समाज तथा व्यवस्था के स्वरूप को लोकतान्त्रिक बनाने का कार्य व्यक्ति, समाज तथा राज्य में से किसका है? वस्तुतः व्यक्ति के व्यवहार का ऐसा स्वरूप होना चाहिए कि वह लोकतान्त्रिक बना रहे, समाज व्यवस्था की ऐसी प्रक्रिया होनी चाहिए कि व्यक्ति तथा समाज की जीवन पद्धति का स्वरूप लोकतान्त्रिक बना रहे तथा राज्य का ढाँचा इस विषय के प्रति उत्तरदायी हो कि वह स्वयं सामाजिक व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप न कर सके तथा समाज विरोधी व्यक्ति को अपने नियन्त्रण से स्वतन्त्र न रहने दे। इस कार्य योजना की संरचना एक व्यक्ति नहीं कर सकता है। यह कार्य करने के लिए राज्य की भूमिका समाज व्यवस्था के मौलिक क्रम के अनुसार निर्धारित होनी चाहिए न कि राज्य को समाज–व्यवस्था की संरचना का प्रयास करना चाहिए। वर्तमान पूँजीवादी लोकतन्त्र अन्य राजनीतिक सिद्धान्तों की तरह ही अलोकतान्त्रिक व्यवहार का ढाँचा बनाता है; आधुनिक विश्व में पूँजीवादी लोकतन्त्र धनबल के आधार पर उसी प्रकार कार्य कर रहा है जिस प्रकार धार्मिक–राज्य तथा साम्यवादी–राज्य धनबल तथा बाहुबल के आधार पर कार्य कर रहे हैं। इनमें अन्तर केवल इतना है कि अन्य व्यवस्थाओं में व्यक्ति की कोई मौलिक स्वतन्त्रता नही है, वहाँ व्यक्ति राज्य द्वारा प्रदत्त भौतिक सुविधाओं के बदले जीवन भर राज्य की गुलामी करने के लिए बाध्य होता है और पूँजीवादी लोकतन्त्र में व्यक्ति, राज्य द्वारा प्रदत्त मौलिक स्वतन्त्रता को नशे की भांति जीवन की मूल स्वतन्त्रता समझकर राज्य की गुलामी करता है। इस प्रकार राज्य, व्यक्ति की स्वतन्त्रता को बन्धक बनाए रखने के लिए व्यक्ति को पूँजीवादी षड्यन्त्र में उलझाए रखता है। मेरे विचार से व्यवस्था के ये सभी प्रारूप गलत हैं। इनका उन्मूलन होकर समाज व्यवस्था के सामयिक ढाँचे का निर्माण किया जाना चाहिए।

चार–मार्क्स का राज्यवादी समाज :–

मानव सभ्यता के इतिहास में अभी तक व्यक्ति द्वारा राज्य व्यवस्था के निर्माण के जिन सिद्धान्तों का भी विकास हुआ है, सभी का उद्देश्य शोषण से मुक्ति तथा जीवन में स्वतन्त्रता एवं सुगमता का विस्तार रहा है। जन–मानस को शासन व्यवस्था द्वारा दिखाए जाने वाले ये दिव्य–स्वप्न बहुत सुहाने लगते हैं, क्योंकि लोक–मानस में ऐसी परिस्थिति का जीवन ही सुखी माना गया है। लेकिन आश्चर्य यह है कि व्यक्ति अभी तक राज्य व्यवस्था के निर्माण में किसी ऐसे सिद्धान्त का प्रयोग नही कर पाया है जो शक्ति केन्द्रीयकरण की अवधारणा से मुक्त हो, क्योंकि स्पष्ट है कि

शक्ति केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त पर आधारित राज्य व्यवस्था, व्यक्ति की स्वतन्त्रता का भक्षण करके ही जीवित रह सकती है। ऐसी व्यवस्था का कोई भी प्रारूप व्यक्ति के सुख का कारण कैसे बन सकता है? इस परिप्रेक्ष्य का जब और भी विस्तार से निरीक्षण करते हैं तो यह सिद्ध होता है कि अन्य राज्य व्यवस्थाओं की तुलना में साम्यवाद का सिद्धान्त तो राज्य सत्ता के केन्द्रीयकरण के द्वारा समाज के स्वरूप को मिटाकर, एक ऐसे राज्य के रूप में स्थापित कर देता है जिसमें व्यक्ति, परिवार और समाज का कोई अस्तित्व ही नही होता है। अस्तु इस समीक्षा पर साम्यवाद के अनुयाई यह प्रश्न तो खडा करेंगें ही कि मार्क्स का साम्यवाद तो समाज के दबे–कुचले वर्ग को सत्ता तथा अर्थ–तन्त्र का न केवल नियन्त्रण–कर्ता बनाना चाहता है बल्कि इसे स्वयं व्यवस्था के मौलिक रूप में स्थापित कर देना चाहता है; क्योंकि अन्य राज्य व्यवस्थाएं तथा परम्परागत समाज के उच्च वर्ग, सर्वहारा का शोषण करते आए हैं। ऐसे में यदि सर्वहारा स्वयं ही व्यवस्था का स्वरूप होगा तो समाज, धर्म तथा पूँजीवाद जैसा कोई भी अन्य विचार इसे नियन्त्रित नही कर सकेगा! लेकिन साम्यवादी राज्य जैसे ही व्यवहार में आता है तो स्वयं भी सत्ता के संचालक तथा संचालित वर्ग मे बंट जाता है; क्योंकि राज्य के सामने व्यवस्था को चलाने तथा वैश्विक प्रतिस्पर्धा में स्वयं को बनाए रखने का प्रश्न होता है तो व्यक्ति का प्राकृतिक सन्दर्भ उसे स्वैच्छिक जीवन अर्थात स्वतन्त्रता, समाज, धर्म, परम्परा जैसे विषयों से अलग नही होने देता! मूलतः व्यवस्था का कार्य व्यक्ति तथा उसकी सामाजिक संरचना पर नियन्त्रण करना नही हो सकता है; इसके लिए उसे समाज में वर्ग–संघर्ष की दशा विकसित नही करनी चाहिए। जीवन की उत्पत्ति के दृष्टिकोण के अनुसार देखें तो व्यक्ति मौलिक विषय है और इसके द्वारा निर्मित व्यवस्था कृत्रिम; किसी भी मौलिक विषय पर कृत्रिम विषय की प्रभुता स्थापित करने का प्रयास प्राकृतिक व्यवस्था निर्वहन के विरूद्ध होता है। व्यवस्था का कार्य यह होता है कि जब समाज की कोई मौलिक इकाई किसी अन्य मौलिक इकाई की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण करे तो वह ऐसा करने वाली इकाई पर नियन्त्रण करे। मूलतः व्यवस्था व्यक्ति की स्वच्छन्दता पर नियन्त्रण के लिए होती हैं; उसकी स्वतन्त्रता पर नियन्त्रण के लिए नहीं। इसलिए किसी भी व्यवस्था का कार्य व्यक्ति द्वारा विकसित समाज व्यवस्था के प्रबन्ध का निर्वहन होता है। समाज में वर्ग–संघर्ष की दशा का इस प्रकार उन्मूलन किया जाए कि किसी सिद्धान्त के आधार पर व्यक्ति को राज्य घोषित करना और फिर राज्य के रूप में विकसित उस इकाई द्वारा व्यक्ति तथा उसकी प्राकृतिक व्यवस्था अर्थात समाज का पतन करना, तानाशाही का सबसे खतरनाक रूप होता है। व्यक्ति, राज्य नही होता; व्यक्ति, व्यवस्था भी नही होता; यह प्रकृति की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है और इसके द्वारा निर्मित राज्य का कार्य इसकी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने का प्रबन्ध करना है। किन्ही कारणों से समाज में गलत सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक प्रबन्ध की परिस्थिति में किसी भी राज्य को इसे बाजार के प्रतिद्वन्द की वस्तु बनाने का अधिकार नही हो सकता है। पूँजीवाद में तो स्वाभाविक बाजारू प्रतिद्वन्द निहित है; लेकिन साम्यवाद स्वयं को जन–व्यवस्था घोषित करके भी व्यक्ति को बाजार के प्रतिद्वन्द में निहित कर देता है तथा समाज से विरक्त इकाई बना देता है। ऐसे राज्य का यह प्रयास जब व्यक्ति के सामाजिक स्वरूप का पतन करता है तो वह केवल व्यावसायिक उपयोग की वस्तु बचता है, जिसके पास राज्य की कृपा के रूप में भौतिक सुविधाएं तो होती हैं लेकिन स्वनिर्णय और अभिव्यक्ति जैसी कोई मौलिक स्वतन्त्रता नही होती। इस प्रकार समता के विचार से उत्पन्न हुआ राज्य भीड पर नियन्त्रण के लिए एक कठोर तथा उदण्ड राज्यवादी समाज का निर्माण करता है। जिसका व्यवस्था क्रम कुछ इस प्रकार निर्मित होता है –

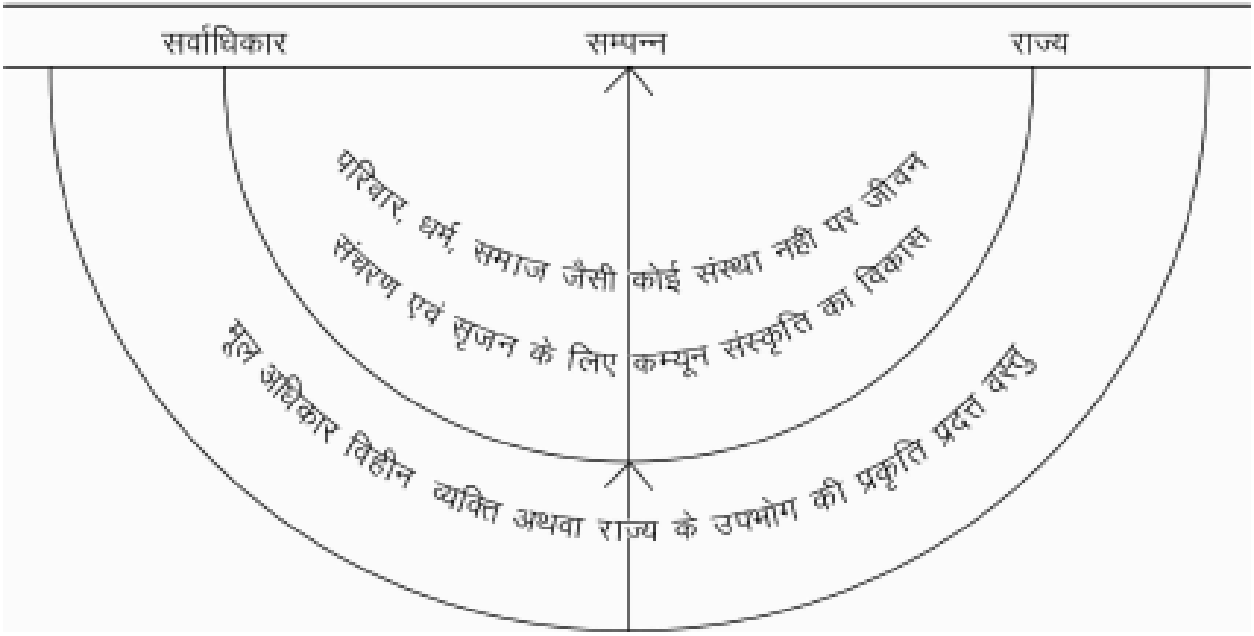

मेरे विचार से साम्यवादी समाज की यह पर्याप्त समीक्षा नहीं है लेकिन इस अति सूक्ष्म विश्लेषण को प्रस्तुत करने का मेरा यह आशय है कि साम्यवादी समाज का सिद्धान्त स्वयं को जिस सामाजिक आदर्श का निर्वाहक बताता है; वस्तुतः साम्यवादी राज्य उसके विरूद्ध ही आचरण करता है। यह स्पष्ट है कि अभी तक दुनिया में साम्यवादी सिद्धान्त के आधार पर ऐसी किसी राज्य तथा समाज–व्यवस्था का निर्माण नहीं हो सका है जिसका स्वरूप सामाजिक हो; जिसमें राज्य व्यवस्था पर समाज की प्रभुता हो और जब तक राज्य पर समाज की प्रभुता स्थापित न हो सके तब तक साम्यवाद की विवेचना निरर्थक है। उलटे दुनिया भर में अभी तक का साम्यवादियों का इतिहास तो समाज के विरूद्ध क्रूर हिंसा से भरा पड़ा है।

द्वन्दात्मक भौतिकवाद और मार्क्स का समाजवाद :–

द्वन्द शब्द का सामान्य भाव संघर्ष के रूप में परिलक्षित होता है। युद्ध, रहस्य, युग्म इस शब्द के पर्याय होते हैं। दो या उनसे अधिक स्वतन्त्र इकाईयों के बीच अस्तित्व की रक्षा, स्थापना एवं उत्पत्ति के लिए होने वाला संघर्ष एवं संसग द्वन्द कहलाता है। यह द्वन्द वैचारिक या शारीरिक कैसा भी हो सकता है? व्यक्ति स्वयं भी जब किसी परिस्थिति को स्वीकारने या नकारने का निर्णय नही कर पाता है तो वह स्वयं से ही द्वन्द कर बैठता है। अर्थात किसी सिद्धान्त को मानने या न मानने का मानसिक विमर्श भी द्वन्द ही है। केवल निवृत्ति के प्राकृतिक भाव को छोडकर भूमि पर व्यवस्था का ऐसा कोई सिद्धान्त स्थापित नही है जो द्वन्द रहित हो! व्यक्ति ने धर्म के गुणात्मक स्वरूप को नकारकर, संगठनात्मक धर्म को आध्यात्म का भौतिक स्वरूप बनाकर, धर्म को भी निष्ठुर द्वन्दात्मक बना दिया है। मूलतः धर्म तो मद–रहित होता है। भौतिक जगत में प्रत्यक्ष कोई भी संगठन, विचार, क्रिया, चेतना, व्यक्ति, द्वन्द रहित नही है; यहाँ तक कि गांधी जैसा स्थिर–चित और व्यवस्था के विभिन्न दर्शनों को स्वयं में आत्मसात करने वाला व्यक्ति भी भौतिक दुनिया में द्वन्द रहित नही रहा है तो और किसी की तो बिसात ही क्या है? यदि अनुसंधान एवं विकास के दृष्टिकोण से देखा जाए तो भौतिक जीवन में द्वन्द के महत्व को नकारा नही जा सकता है। जीवन में द्वन्द के प्रभाव से मुक्त होने के लिए व्यक्ति के स्वभाव में अतिशय निवृत्ति चाहिए

अर्थात व्यक्ति प्रकृतिमय हो जाए तभी उसे द्वन्द से मुक्ति मिल सकती है; अन्यथा द्वन्द सृष्टि के भौतिक स्वरूप का क्रम बनाए रखने की आवश्यकता भी है। मै द्वन्द की इस विवेचना का पटाक्षेप इस तथ्य के द्वारा करूँगा कि सृष्टि के अस्तित्व को जीवित रखने के लिए दो जीवधारी सन्तान की उत्पत्ति हेतु संसर्ग करते हैं तो यह द्वन्द का ठीक क्रम है लेकिन कोई व्यक्ति जब इस क्रिया को मदान्ध होकर बलपूर्वक करता है तो यह द्वन्द का गलत क्रम है। विचार के अन्वेषण के लिए द्वन्द होता है तो यह इसका ठीक क्रम है और व्यक्ति किसी विचार को रूढि बनाकर उसे संगठनात्मक धर्म के रूप में स्थापित करता है तो यह द्वन्द का गलत क्रम है। निवृत्ति का दर्शन द्वन्द के प्रभाव से नष्ट हो जाता है; इसके उलट भौतिक जीवन में द्वन्द का अभाव इसके अस्तित्व का पतन कर देता है।.... लेकिन प्रस्तुत तर्क यह प्रश्न उत्पन्न करता है कि यदि द्वन्द के अभाव में जीवन की सृष्टि एवं विकास असम्भव है तो मार्क्स का द्वन्दात्मक भौतिकवाद तो बहुत तार्किक सिद्धान्त है? इस टिप्पणी पर मेरा यह स्पष्टीकरण है कि व्यवस्था में किसी व्यक्ति, वर्ग तथा राज्य द्वारा किसी अन्य व्यक्ति, वर्ग तथा राज्य का प्रतिकार द्वन्द नही हो सकता है। वस्तुतः प्रतिकार और द्वन्द दोनों अलग–अलग विषय होते हैं। समाज में द्वन्द, अनुसंधान, विकास, कार्य और निर्माण का कारण बनता है, यह क्रम व्यक्ति को यथार्थ के अनुसार व्यवस्था के निर्माण के प्रति उत्साहित करता है और काल–वाह्य हो चुकी व्यवस्था को त्यागने का आधार निर्मित करता है। लेकिन यह क्रम व्यक्ति के सामाजिक स्वरूप का पतन नही करता है। दूसरी ओर जैसा कि अब तक दुनिया में मार्क्स द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था के सिद्धान्त के परिणाम आए हैं उसके अनुसार मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त या तो अपने प्रतिद्वंदियों का प्रतिकार करता है अन्यथा समाज के स्वरूप को राज्य में लीन करके व्यक्ति को उसकी सामाजिक प्रकृति के विरूद्ध जीवन निर्वाह करने के लिए बाध्य करता है। वस्तुतः मार्क्स के द्वन्द में प्रतिकार का भाव निहित है। सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन का अर्थ यह सिद्ध नही करता है कि नई व्यवस्था उन लोगों का प्रतिकार करे जो तात्कालिक व्यवस्था को गलत ढंग से चला रहे होते हैं; बल्कि व्यवस्था के ठीक स्वरूप का कार्य पूर्व की व्यवस्था की गलत संरचना को शून्य करना होता है। व्यवस्था का प्रतिकारात्मक उन्मूलन हिंसा एवं प्रति हिंसा का कारक होता है। मार्क्स का द्वन्दात्मक भौतिकवाद पर आधारित सिद्धान्त जिस राज्य का निर्माण करता है उसमें ये दोनों ही स्थितियां निहित होती हैं। ऐसा क्यों है? क्योंकि मार्क्स के विचार पर आधारित समाज अथवा राज्य व्यवस्था का स्वरूप केवल शक्ति के आधार पर संचालित होता है; इसमें सामाजिक संस्थाओं की कोई भूमिका ही नही होती है। व्यक्ति में अन्तर–निहित तथा इसके लोकव्यवहार में घटित होने वाले द्वन्द को सन्तुलित रखने का कार्य परिवार, समाज तथा धर्म जैसी संस्थाएं करती हैं। इस कार्य में धर्म तथा समाज का महत्व सबसे ज्यादा होता है; क्योंकि ये दोनों वर्ग–संघर्ष के संगठन–भाव से मुक्त होते हैं। लेकिन मार्क्स तथा उसके सिद्धान्त के अनुसार निर्मित राज्य तो धर्महोन है और इसका कारण यह है कि वह संसार के जिस सांस्कृतिक विवृत का निवासी रहा था वह तो आज तक भी धर्म के संगठनात्मक स्वरूप अथवा सम्प्रदायवाद को ही धर्म के रूप में स्वीकार करता है। वस्तुतः मार्क्स, धर्म के दर्शन का विश्लेषण करने में अक्षम रहा है। निश्चित रूप से उसन धर्म को पूजा–पद्धति, चोटी–दाढी, वेश–भूषा, खान–पान, मृतक संस्कार एवं संख्या बल जैसे जुमलों से बनी हुई विषय–वस्तु माना है। वह धर्म तथा सम्प्रदाय में भेद करने में असमर्थ रहा है। मार्क्स ऐसे ही अपूर्ण धर्म–दर्शन को देखता एवं भुगतता है। यदि ऐसे दिग्भ्रमित विषयों पर आधारित मदान्ध धर्म को वह मानवता लिए अफीम बताता है तो इसमें उसकी गलती भी क्या है? लेकिन उसकी यह गलती अवश्य है कि वह धर्म तथा समाज को बिना जाने ही व्यक्ति को इनसे विरक्त करने हेतु व्यवस्था का ऐसा निष्ठुर सिद्धान्त प्रतिपादित करता है जिसमें न स्वतन्त्र व्यक्ति है और न समाज का प्राकृतिक स्वरूप।

अर्थात यह एक धर्म एवं दर्शन से विरक्त चेतनाहीन राज्यवादी समाज का सिद्धान्त है। मैं मार्क्स के इस दृष्टिकोण को स्वीकार करता हूँ कि व्यक्ति राज्यविहीन जीवन स्वीकार करे लेकिन व्यक्ति व्यवस्था विहीन जीवन निर्वाह नहीं कर सकता है! क्योंकि व्यक्ति को प्राकृतिक रूप से प्राप्त बुद्धि तथा विवेक जैसे गुण इसे परम स्वतन्त्र होकर जीवन निर्वाह नहीं करने देगें। व्यक्ति के स्वरूप में बुद्धि तथा विवेक के बीच असन्तुलन व्यवस्था की आवश्यकता को जन्म दे देता है। इसलिए उचित यही है कि व्यक्ति जिन दशाओं में यह सन्तुलन नहीं बना सकता है उन्हें सन्तुलित करने के लिए केवल आवश्यक व्यवस्था का निर्माण करे, तनिक भी ज्यादा नहीं। हमारा यह प्रयास व्यक्ति को शासन के वर्चस्व तथा उदण्डता एवं व्यक्ति की अराजकता के दुष्प्रभाव से बचाए रखने के लिए आवश्यक है। दूसरी ओर मार्क्स, स्थापित खराब व्यवस्था के विरूद्ध जिस प्रकार व्यक्ति को संघर्ष करने की प्रेरणा देता है; वह सर्वहारा को श्रम–शोषकों द्वारा प्रताडित पाता है; उस खराब व्यवस्था का उन्मूलन करके वह व्यक्ति को पुनः निरंकुश राज्य का गुलाम बना देता है और ऊपर से ताना यह है कि वह सर्वहारा, वह व्यक्ति स्वयं ही इस राज्यवादो समाज का निर्माता है। व्यक्ति, राज्य की इकाई नही होता है; बल्कि वह समाज की इकाई होता है। यदि खालिस व्यवस्था के नाम पर राज्य, व्यक्ति को नियन्त्रित करने की विधि स्थापित करता है तो व्यक्ति को स्वयं को ठीक उसी प्रकार अराजक सिद्ध करना चाहिए जिस प्रकार व्यक्ति की व्यवस्था में रहकर भी अन्य प्रकृति उस व्यवस्था से विरक्त ही रहती है; अन्यथा व्यवस्था के प्रबन्ध हेतु राज्य का कार्य केवल समाज विरोधी तत्वों पर नियन्त्रण करना होता है। लेकिन मार्क्स का राजनीतिक सिद्धान्त तो व्यक्ति एवं समाज का अस्तित्व राज्य में गौण कर देता है। मार्क्स पूर्व में स्थापित दोषपूर्ण व्यवस्था में बदलाव के लिए व्यक्ति को उस दोषपूर्ण व्यवस्था के विरूद्ध द्वन्द करने के लिए इसलिए उत्साहित करता है कि वह भौतिक व्यवस्था पर नियन्त्रण करे। वह आम–जन को सर्वहारा कहकर उसकी पीडा की सुध तो लेता है लेकिन उसके समाजवाद में उस सर्वहारा की मुक्ति का मार्ग नही है; बल्कि वह उसे फिर एक कठोर राज्य का दास बना देता है। मार्क्स के सर्वहारा ने दुनिया में जहाँ कहीं भी राज्य शक्ति को प्राप्त किया है वह अन्ततः तानाशाह बन गया है। क्या द्वन्दात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त समाज के स्वरूप को राज्य में लीन करके, राज्य की शक्ति को केवल उन लोगों में निहित करने की विधा है जिनके पास राज्य का नीति–नियोजन होता है? क्योंकि समाज के अस्तित्व के पतन के आधार पर किया जाने वाला राज्य का निर्माण व्यक्ति को व्यवस्था का सहभागी नही बनाता है। वस्तुतः द्वन्दात्मक भौतिकवाद का अर्थ भौतिक व्यवस्था आर वैभव पर आम आदमी के नियन्त्रण की कला होना चाहिए, क्योंकि भौतिक जीवन में व्यक्ति द्वन्द से मुक्त नही रह सकता है। इसके द्वन्द को, इसकी भौतिक चेतना को राज्य के स्वरूप में स्वीकार करके समाप्त नही किया जा सकता है। व्यक्ति के जीवन में यह द्वन्द मार्क्स से पहले भी था, बाद में भी है और सदैव रहेगा। व्यक्ति के जीवन में धर्म एवं दर्शन इसे व्यवस्थित तथा स्पर्धात्मक बनाते हैं; लेकिन मार्क्स ने द्वन्द को धर्म एवं दर्शन से विरक्त करके इसे प्रतिस्पर्धात्मक बना दिया है। भौतिक जीवन में व्यक्ति की परिस्थितियों तथा अन्य व्यक्तियों से स्पर्धा होने से वह प्रकृति के उपभोग की कला सीखता है, व्यक्ति स्पर्धात्मक रहने तक अन्यों के अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप नही करता, लेकिन प्रतिस्पर्धा तो प्रतिद्वंदियों के बीच होती है। स्पर्धा में शत्रु भाव नही होता लेकिन प्रतिस्पर्धा में होता है। वस्तुतः मार्क्स द्वन्दात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त का प्रर्वतक नही है; यह तो सृष्टि के भौतिक स्वरूप का प्राकृतिक गुण है; तभी तो व्यक्ति सृजन एवं स्थापना करता रहा है। इस विमर्श के विश्लेषण स्वरूप यह कहा जा सकता है कि सत्ता के अन्य सिद्धान्तों की तरह मार्क्स ने भी अपने सिद्धान्त के द्वारा आम आदमी के मालिक की अदला–बदली का ही विचार प्रस्तुत किया है। मार्क्स द्वारा निर्मित आम आदमी का यह मालिक वह तथाकथित राज्य ही है जिसे सर्वहारा द्वारा बनाया

गया बताया जाता है। अन्यथा आम आदमी की मुक्ति तो केवल स्वराज्य के सिद्धान्त में निहित है, सत्ता के अकेन्द्रीयकरण में निहित है, अन्यथा कहीं नहीं। चाहे वह स्वराज्य अराजकता का परम बिन्दु ही क्यों न हो? अस्तु स्वराज्य के सिद्धान्त के आधार पर शक्ति अकेन्द्रीयकरण के सिद्धान्त के अनुसार निर्मित होने वाले राज्यों से सहज तथा व्यावहारिक व्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है।

सम्प्रभुता का स्वरूपः–

राजनीति विज्ञान के अनुसार सम्प्रभुता राज्य के चार आवश्यक तत्वों में से एक होता है। मेरे विचार से राजनीति विज्ञान का यह दृष्टिकोण उस परिस्थिति में तो ठीक ठहराया जा सकता है जब व्यक्ति तथा समाज का सृजन राज्य ने ही किया हो; लेकिन वस्तु स्थिति राजनीति विज्ञान के इस दृष्टिकोण के उलट है। सर्वविदित है कि व्यक्ति, समाज की नैसर्गिक इकाई है और समाज की संरचना इसकी प्राकृतिक एवं भौतिक आवश्यकताओं के आधार पर होती है। व्यक्ति समाज के किसी वैधानिक ढाँचे का निर्माण नही करता; लेकिन व्यवहार में यह होता है। व्यक्ति का यह व्यवहार ही समाज नाम की सार्वभौमिक इकाई का निर्माता है। वस्तुतः व्यक्ति के जीवन विस्तार का स्वरूप 'समाज' कहलाता है और इस जीवन विस्तार का व्यवस्था प्रबन्ध करने वाली इकाई 'राज्य'। समाज, व्यक्ति के जीवन विस्तार को आरम्भ से अन्तिम छोर तक अपने विवृत में समेटता है; इसलिए समाज प्रत्यक्ष व्यवस्था में सर्वोच्च स्थान रखता है। अन्य सभी व्यक्तिकृत व्यवस्था इसके विवृत में समा जाती हैं; अतः वे इससे स्वतन्त्र नही हो सकती हैं।

प्रस्तुत विमर्श में यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है कि व्यक्ति, व्यवस्था के प्रत्येक आयाम का निर्माता एवं कारण तो है, लेकिन इसकी व्यवस्था का प्रत्येक क्रियान्वयन तो राज्य के द्वारा ही होता है; इस आधार पर राज्य को सम्प्रभु इकाई के रूप में स्वीकारनें में क्या हर्ज हो सकता है? जबकि यह कारण विदित है कि शक्ति के प्रयोग के अभाव में किसी भी व्यवस्था का क्रियान्वयन असम्भव होता है। इस सन्दर्भ में मेरा दृष्टिकोण यह है कि यह विचार करना व्यक्ति–मात्र का दायित्व होता है कि व्यक्ति के व्यवस्था–तन्त्र में व्यक्ति, राज्य तथा समाज में से सम्प्रभु इकाई कौन सी होती है? विचार कीजिए कि सम्प्रभु व्यक्ति जब भी जीवन के प्राकृतिक अनुशासन के विरूद्ध आचरण करता है तो वह स्वयं निर्मित व्यवस्था को हो तहस–नहस करता है और सम्प्रभु इकाई होने के आधार पर वह व्यवस्था की नियन्त्रण प्रणाली से स्वयं को स्वतन्त्र भी घोषित कर सकता है। व्यक्ति की अनियन्त्रित शक्ति की यह अवधारणा ही समाज में अधिनायकवाद की अवधारणा को जन्म देती है। दूसरी ओर यदि व्यक्ति, समाज में परस्पर स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का पालन करे तो व्यक्ति की प्राकृतिक सम्प्रभुता को किसी व्यवस्थागत इकाई द्वारा नियन्त्रित करने की कोई आवश्यकता ही नही होगी! लेकिन मुझे नही लगता कि व्यक्ति की भौतिक जीवन–चर्या समाज में इस आदर्श स्थिति को पनपने दे सकती है। इस विषय में दूसरा सिद्धान्त 'राज्य' को सम्प्रभु घोषित करने का है; समाज का जैसा चित्र दुनिया भर में विद्यमान है। वस्तुतः इस सिद्धान्त के अनुसार निर्मित व्यवस्था ने समाज के सामाजिक स्वरूप को निगल लिया है। इस कारण से राज्य तथा इससे संरक्षण पाने वाले समाज के वर्ग उच्छृंखल हो गए हैं। इस दशा में व्यक्ति या तो अपने वर्ग से संरक्षण पाकर उदण्ड बन जाता है अथवा राज्य का गुलाम बन जाता है। सम्प्रभु राज्य के अस्तित्व पर मै यह स्वतन्त्र टिप्पणी करूँगा कि संसार में जिस किसी भी व्यक्ति ने पहली बार व्यवस्था के संचालन के लिए सम्प्रभुता को राज्य के निर्माण का आवश्यक तत्व बताया था, उसने सदैव के लिए समाज तन्त्र को राज्य तन्त्र का गुलाम बना दिया था। सम्प्रभुता का समावेश केवल राज्य में नही होना चाहिए; ऐसा होने पर यह निरंकुश हो जाता है; बल्कि यह तो व्यक्ति एवं समाज व्यवस्था की इकाईयों में इनके स्तर की आवश्यकता के अनुसार विभाजित होना चाहिए।

सम्प्रभुता के राज्य में केन्द्रित होने की अवधारणा ने समाज का अस्तित्व राज्य में लीन कर दिया है। मेरे विचार से व्यवस्था निर्माण की यह गलत प्रक्रिया है। लेकिन प्रश्न तो अब भी अपेक्षित है कि शक्ति के अभाव में राज्य, समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन किस प्रकार कर सकेगा अथवा शक्ति के अभाव में किसी भी व्यवस्था का ढाँचा किस प्रकार निर्मित हो सकता है? वस्तुतः जीवन के सुचारू निर्वहन के लिए व्यवस्था के निर्माण की प्रक्रिया शक्ति के नियोजन के आधार पर निर्मित होनी चाहिए; इसके केन्द्रीयकरण के आधार पर नहों। सृष्टि सृजन का सिद्धान्त विषय–वस्तु में शक्ति के क्रमिक नियोजन पर आधारित है; शक्ति के केन्द्रीयकरण पर नही। यह तथ्य पुनः यह प्रश्न पैदा करता है कि व्यवस्था के दृष्टिकोण से नियोजन तथा केन्द्रीयकरण में क्या अन्तर होता है? किसी भी व्यवस्था के ढाँचे के निर्माण में शक्ति का नियोजन उसके दो रूप प्रकट करता है; एक तो यह कि राज्य–व्यवस्था की इकाईयों में शक्ति का विभाजन इस प्रकार होना चाहिए कि इसकी किसी भी इकाई को वर्चस्ववादी बनने का अवसर न मिल सके। इस दशा का केवल एक उपाय है कि राज्य व्यवस्था का निर्माण इस प्रकार हो कि इसमें शक्ति का विकेन्द्रीयकरण व्यक्ति से राज्य की ओर हो न कि राज्य से व्यक्ति की ओर, तथा राज्य स्वयं में व्यवस्था की सर्वोच्च इकाई न होकर समाज के प्रति उत्तरदायी हो। इस तथ्य का अर्थ यह है कि समाज की सीमा राज्य अथवा राष्ट्र नही बल्कि व्यक्ति की जीवनचर्या की पहुँच का प्रत्येक अन्तिम छोर होता है। इसका दूसरा कारण यह है कि राज्य व्यवस्था, समाज के ढाँचे को परिभाषित न करे बल्कि समाज द्वारा व्यक्त अपनी परिभाषा के आधार पर इसकी व्यवस्था का प्रबन्ध करे। समाज के ढाँचे में ऐसी दशाओं का विकास व्यवस्था में शक्ति के नियोजन का परिणाम होता है। शक्ति नियोजन का यही प्रकार राज्य व्यवस्था पर समाज की प्रभुता सिद्ध कर देता है अर्थात इस दशा में समाज सम्प्रभु होता है। दूसरी ओर किसी राज्य–क्षेत्र में यदि भीड विभिन्न वर्गों में बंटकर वर्चस्ववाद का संघर्ष करती है तो यह राज्य में शक्ति के केन्द्रोयकरण का परिणाम होता है, वर्चस्व की स्थापना की यह प्रक्रिया दो या उनसे अधिक राज्यों के बीच भी हो सकती है और दो या उनसे अधिक व्यक्तियों के बीच भी, अर्थात इस दशा में राज्य सम्प्रभु होता है। दुनिया में सम्प्रभुता का यही रूप प्रचलित है। अब यह निर्णय व्यक्ति तथा समाज को करना है कि सम्प्रभुता का कौन सा स्वरूप इनके अनुकूल हो सकता है!

भारत में कानून निर्माण का प्रकार और सामाजिक परिदृश्य :–

किसी भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अनुसार बनने वाले कानूनों के विषयों पर सामाजिक विमर्श का होना आवश्यक होता है। देश के व्यवस्थापकों द्वारा किया जाने वाला ऐसा प्रयास न केवल व्यवस्था को पारदर्शी बनाता है बल्कि जन साधारण के बीच व्यवस्था–तन्त्र की स्वीकार्यता और उसके प्रबन्ध को भी बहुत सरल बना देता है। लेकिन स्वतन्त्र भारत में किसी भी विषय पर बनने वाले कानून के बारे में समाज तथा व्यवस्था की संचालक इकाई (सरकार) ऐसे किसी भी प्रयास से विरक्त ही रहती है। मेरे विचार से ऐसा होने के दो कारण हैं, एक तो यह कि लोकतन्त्र में व्यवस्था के संचलान के लिए विभिन्न व्यक्तियों के बीच मत–भिन्नता के विषय के महत्व को ठुकरा कर कानूनों का निर्माण नही किया जाना चाहिए। वस्तुतः मत–भिन्नता के विषय पर विमर्श का अभाव समाज में वर्ग–संघर्ष के होने का कारण बन जाता है और विभिन्न सरकारें इस वर्ग–संघर्ष के आधार पर विभाजित हुए जनमत का निहित स्वार्थ में प्रयोग करती रहती हैं। इस विषय में दूसरा कारण यह ह कि व्यक्तियों की भीड अपनी उस सरकार के अस्तित्व को किस प्रकार स्वीकार करती है जो उसके लिए कानून का निर्माण कर रही है? लोकतान्त्रिक व्यवस्था में कानूनों के निर्माण के समय मत–भिन्नता के विचार का सामाजिक स्तर पर वर्ग–विद्वेष की ओर

बढना तथा सरकार के दृष्टिकोण का इस प्रकार स्थापित होना कि वह समाज के प्रति उत्तरदायी न होकर या तो समाज के किसी वर्ग के प्रति उत्तरदायी है अथवा सरकार का दृष्टिकोण किसी का व्यक्तिगत विरोधी है तो यह वास्तव में सरकार एवं व्यवस्था तन्त्र की असफलता का प्रतीक होता है। क्योंकि लोकतन्त्र, शासन व्यवस्था से पहले समाज की जीवन–पद्धति में आना चाहिए। समाज की जीवन–पद्धति में आया लोकतन्त्र समाज में वर्ग समन्वय का आधार बन सकता है और मत–भिन्नता के विषय पर होने वाले सामाजिक विमर्श, व्यक्तियों की जीवन–पद्धति को लोकतान्त्रिक बनाने में सहायक होते हैं। लेकिन एक ओर भारतीय समाज ज्यों–ज्यों नई दुनिया की भौतिक जीवन पद्धतियों का रसास्वादन कर रहा है त्यों–त्यों दूसरी ओर हमारे समाज का परिप्रेक्ष्य वर्ग–संघर्ष की दल–दल में फंसता जा रहा है। अस्तु मत–भिन्नता के विषय को आधार मानकर इतिहास का निरीक्षण करते हैं तो भारत में प्राचीन काल से ही मत–भिन्नता के सिद्धान्त को आधार बनाकर विमर्श करने की परिपाटी रही है। भारतीयों ने अपने इसी अभ्यास के आधार पर बाहर से आई हुई संस्कृतियों को सरलतापूर्वक अपनी सामाजिक व्यवस्था में स्थान दे दिया; लेकिन दुनिया के बदले हुए सामाजिक परिवेश में भारत के तमाम तथाकथित समाजवादी नेता, भारतीय विचार–मनीषा के इस तथ्य को आधार बनाकर ही भारत में आज अनावश्यक वर्ग तुष्टिकरण की राजनीति कर रहें हैं। इसी अनावश्यक वर्ग तुष्टीकरण के विरोध स्वरूप भारत की बहुसंख्यक जनता ने कठोर राज्य के अनुयाई दक्षिणपन्थियों को अपनी व्यवस्था की बागडोर सोंप दी है। क्या कभी भारत के इन सामाजिक प्रवृत्ति से विमुख समाजवादियों से यह प्रश्न किया जाएगा कि क्या लोकतन्त्र जैसी सामाजिक व्यवस्था को भी समाजवादी बनाने की आवश्यकता हो सकती है? लोकतन्त्र शब्द स्वयं में सामाजिक व्यवस्था का प्रतिमान है, हाँ लोकतन्त्र के परिप्रेक्ष्य को समाजवादी बनाने की घोषणा करने का निरर्थक अभिप्राय समाजवाद की समकक्ष विचारधाराओं को उनके वर्ग तुष्टिकरण के लिए सजग कर देता है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में अगर भारत को हिन्दू राष्ट्र घोषित कर दिया जाए तो यह निश्चित है कि भारत लोकतान्त्रिक देश न रह कर वर्ग तानाशाही का देश स्वतः ही घोषित हो जाएगा। वस्तुतः लोकतन्त्र केवल उस परिस्थिति में अपना अभिप्राय सिद्ध करता है जब वह समाज का प्रतिनिधि होता है किसी वर्ग का नही। स्वतन्त्रता के बाद भारत में कई राजनीतिक संगठनो द्वारा किए गए बहुसंख्यक समुदाय की तुलना में अल्पसंख्यक वर्ग तुष्टीकरण के विषय का चित्र नजरों के सामने उभरता है तो इस्लाम एवं इसाईयत के संगठन विस्तार के विषय को मै दरकिनार नही कर पाता हूँ। क्योंकि इसाईयत व इस्लाम के रूप में स्थापित दुनिया के दो सबसे बडे सांस्कृतिक जन–समुदाय अपने धार्मिक संगठन विस्तार के प्रति इतने अति–उत्साही किन्तु अनुशासनहीन रहे हैं कि इस कार्य के लिए इन्होनें अपनी उत्पत्ति के काल से अब तक हमेशा दुनिया की सामाजिक संरचना के विभिन्नता से भरे प्राकृतिक स्वरूप को ही मिटाने के प्रयास किए हैं! दुनिया में इन दोनों सांस्कृतिक समुदायों ने जिस प्रकार अपने धार्मिक संगठनवाद को राज्य की स्थापना और विस्तार का आधार बनाया, ऐसा घृणित प्रयास दुनिया की किसी अन्य विचार धारा ने कभी नही किया। इस विषय में इसाईयत की विचार धारा के अनुयाईयों ने यूरोप तथा दुनिया के कई क्षेत्रो में यद्ध एवं षड्यन्त्रकारी हिंसा से ऊबकर अपने साम्प्रदायिक मत के प्रचार के लिए दया, प्रेम, लालच और झूठ की धारणा को अपना जरिया बनाया; जबकि इस्लाम के अनुयाई आज भी हिंसा, भय और आतंकवाद जैसे हथकण्डों के द्वारा ही दुनिया को दारुल–इस्लाम बनाने का सपना पाले हुए हैं। आधुनिक दुनिया में धार्मिक संगठनवाद के विस्तार का कोई भी प्रयास समाज में हिंसक प्रतिवाद को जन्म देने के साथ लचीले लोकतान्त्रिक राज्यों को कठोर प्रतिक्रियावादी राज्यों में परिवर्तित कर रहा है। आखिर समाज को भला संगठनात्मक धर्म के विस्तार की क्या आवश्यकता है? यह नाहक प्रयास प्राकृतिक शक्तियों की उपासना का कोई उपयुक्त प्रकार

नही है और न ऐसे प्रयासों से समाज के किसी वर्ग की व्यवस्था कभी सार्वजनिक व्यवस्था का रूप धारण कर सकेगी! हाँ समाज में किन्ही व्यक्तियों का यह प्रयास सदैव साम्प्रदायिक वर्ग–संघर्ष को बढावा देता रहगा। आज दुनिया की यह कैसी विचित्र एवं घृणित तस्वीर बन गई है कि आधुनिकता की दौड में शामिल होकर भी व्यक्ति, वर्ग प्रतिनिधित्व के रूप में अपनी सामाजिक व्यवस्था के विस्तार को वर्ग केन्द्रित बनाता जा रहा है, इसकी मानसिक संकीर्णता का आलम तो देखिए कि यह अपने वग की 'बन्द' व्यवस्था को सार्वभौमिक व्यवस्था के रूप में स्थापित करने के प्रयास में लगा रहता है। मै पुनः कहुँगा कि इसका कारण किन्ही व्यक्तियों की परस्पर व्यावहारिक मत–भिन्नता का होना नहीं है, यह तो होगी ही, बल्कि इसका कारण तो उन विभिन्न धार्मिक संस्कृतियों की वैचारिक संरचनाएं हैं जो व्यक्तियों के परस्पर सामाजिक व्यवहार के समय अपने सांगठनिक सिद्धान्त को ही सर्वोपरि मानती हैं। इनके इस विचार का यथार्थ से कोई तालमेल नही होता है। इस परिस्थिति में विभिन्न संस्कृतियों की सैद्धान्तिक मत–भिन्नता समाज के लिए तब अधिक घातक बन जाती है जब व्यक्ति सामाजिक संस्कृति के परिप्रेक्ष्य को त्यागकर किसी वर्ग की संस्कृति का अनुयाई सिद्ध हो जाता है। वर्तमान में भारत के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में यह हास्यास्पद किन्तु दुखद परिस्थिति बहुतायत में दिखाई पडती है कि अब यहाँ जातियों एवं साम्प्रदायिक वर्गों को स्वतन्त्र समाज की संज्ञा द्वारा सम्बोधित किया जाता है। जैसे जाट समाज, राजपूत समाज, मुस्लिम समाज इत्यादि। हमारे ऐसे व्यवहार ने समाज के अस्तित्व को तहस–नहस कर दिया है। मूलतः समाज की इकाई व्यक्ति होता है, उसका वह वर्ग नही जिसका अनुयाई बनकर वह समाज की प्राकृतिक संचरना के विरूद्ध खडा हो गया है। अलग–अलग चिन्तनधारा के दो स्वतन्त्र व्यक्तियों के बीच किसी विषय पर जब विमर्श होता है तो समाज–व्यवस्था का नया मार्ग प्रशस्त होता है और जब ऐसा ही प्रयास दो अनुयाईयों के बीच होता है तो सामाजिक समरसता के पतन का दरवाजा खुलता है।

मै जब भी भारतीय समाज व इसके व्यवस्था–तन्त्र की पडताल करता हूँ तो यह तय पाता हूँ कि हम सभी भारतीयों की भीड समाज का कोई आकार नही है; बल्कि यह ऐसे वर्गो का समूह बनकर रह गया है जिनके जन्म का कारण ही समाज के प्राकृतिक स्वरूप का विध्वंश करता है। समाज में ये वर्ग धर्म (संगठनात्मक धर्म या सम्प्रदाय), जाति, क्षेत्र, भाषा, उम्र, लिंग, गरीब–अमीर, उत्पादक – उपभोक्ता के विचारों को समाज निर्माण के आवश्यक सिद्धान्त मानकर बनते हैं। भारत में स्वतन्त्रता के बाद डॉ0 राम मनोहर लोहिया, जय प्रकाश नारायण और तत्काल में बजरंग मुनि जैसे गिने–चुने व्यक्तियों को छोड दिया जाए तो देश में ऐसा कोई धर्म–गुरू, राजनेता, समाज–सुधारक, पूँजीपति और विद्वान नही जान पडता है जिसने इन सिद्धान्तों का प्रयोग भीड को समाज की धारा से विरक्त करने के लिए न किया हो और क्या भारत की लगभग एक सौ चालीस करोड़ जनता में से ऐसे दो–चार हजार स्वतन्त्र लोग खोजे जा सकते हैं जो समाज के इन विघटनकारी सिद्धान्तों के खूंटे से न बंधे हुए हों! इस परिस्थिति में यह समाज कैसा, यह लोक कल्याणकारी राज्य कैसा और राज्य के निरंकुश होने की दशा पर अंकुश लगाने वाला राजनीतिक विपक्ष कैसा? क्या है यह सब? आधुनिक भारत के समाज का हर वर्ग सत्ता पर अपने नियन्त्रण के प्रयास में लगा हुआ है! क्या कोई लोकतान्त्रिक सरकार भी भला स्वयं को समाज का प्रतिनिधि घोषित कर सकती है? नही, बल्कि वह तो केवल समाज की व्यवस्था की प्रबन्धक होती है और लोकतन्त्र में समाज का प्रतिनिधि एक स्वतन्त्र व्यक्ति ही हो सकता है; न कोई सरकार, न कोई किसी वर्ग का अनुयाई और न किसी संगठन का सदस्य। आज समाज में स्वतन्त्र मानसिकता के व्यक्तियों का अकाल है। समाज में यह अभाव इसकी प्राकृतिक संरचना और लोकतन्त्र को इस हद तक निर्मूल सिद्ध कर रहा है कि आज भारत सहित दुनिया भर के दशों में समाज की तलुना

में राज्य ने स्वयं को सम्प्रभु घोषित कर दिया है। ऐसा क्यों हुआ? इसका उत्तर समाज की तुलना में राज्य के सम्प्रभु बन जाने में ही निहित है। वस्तुतः सम्प्रभुता तो समाज में निहित होती है, उस स्वतन्त्र व्यक्ति में निहित होती है जो किसी वर्ग के प्रति नही बल्कि समाज के प्रति उत्तरदायी होता है और समाज के परिवेश में निहित प्रत्येक वर्ग–संघर्ष सम्प्रभु राज्य के परिदृश्य में निहित होता है। लेकिन प्रश्न है कि इस क्रूर परिदृश्य को भंग करने वाला स्वतन्त्र व्यक्ति खोजा कहाँ जाए? आज समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ग की व्यवस्था को सम्पूर्ण मान बैठा है। इस परिस्थिति में पुनः यही प्रश्न पैदा होता है कि इस दशा का समाधान क्या है और उत्तर भी यही है कि मत–भिन्नता के आधार पर होने वाले विमर्श समाज को इस दशा से उबार सकते हैं। यदि विभिन्न वर्ग संघर्षो में उलझा हुआ समाज, राज्य के द्वारा सामाजिक समस्याओं का समाधान कराने का प्रयास करेगा तो राज्य वर्ग तुष्टिकरण के सिद्धान्त का प्रयोग करके समाज को अपने नियन्त्रण में जकडे रखेगा। क्योंकि राज्य के अस्तित्व की रक्षा के लिए ऐसा करना आवश्यक है। स्वतन्त्रता के बाद के भारतीय इतिहास में सरकारों ने वर्ग–तुष्टीकरण को लक्ष्य बनाकर कई ऐसे कानून बनाए हैं। भारत का नया नागरिकता संशोधन कानून भी इसी क्रम की एक इकाई है। वर्ग संघर्ष के जिन प्रतिनिधियों की इस कानून के बनने से सत्ता अभिप्सा बुझती है वे इससे खुश हैं और जो सत्ता से दूर हो रहे हैं वे इससे परेशान हैं। लेकिन समाज का प्रत्येक प्रतिनिधि, समाज की इस दशा से दुखी है कि समाज के परिदृश्य पर ऐसी परिस्थितियां पैदा ही क्यों होती है? वस्तुतः इस कानून के अस्तित्व पर हुई सामाजिक प्रतिक्रिया हमें समाज, धर्म एवं न्याय जैसे मौलिक विषयों के मौजूदा स्वरूप पर चर्चा करने के लिए एक बार फिर चुनौती देती है। इस कानून के पक्ष में पैरोकारी करने वालों का यह तर्क बिल्कुल ठीक है कि जो लोग धार्मिक संगठनवाद के नाम पर दूसरे लोगों को प्रताडित करते हैं उन्हें भारत अपने यहाँ पनाह क्यों द? लेकिन सामाजिक अनुसंधान के दृष्टिकोण से यह महत्वपूर्ण है कि क्या धर्म, भीड के किसी झुण्ड में रह रहे लोगों को पूजा–पद्धतियों एवं अन्य पहचान विशेष के प्रतीकों के आधार पर जातीय संगठन बनाने का अधिकार दे सकता है? धर्म की परिभाषा क्या है? धर्म के परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति के कृत्य का मूल्यांकन उसके गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर होना चाहिए या उसके अनुयाई स्वरूप के आधार पर! यह निश्चित है कि किसी भी वर्ग एवं संस्कृति के अनुयाई का गुण, कर्म, स्वभाव स्वतन्त्र नही हो सकता है और धर्म की परिभाषा तथा व्यवहार को केवल स्वतन्त्र व्यक्ति ही निर्धारित कर सकता है। इसलिए धर्म के दृष्टिकोण से भीड के किसी भी झुण्ड में संगठनवादी धार्मिक एवं अन्य व्यक्तिवादी संगठनों का निर्माण समाज की प्राकृतिक संरचना के विरूद्ध होता है। ऐसे सभी व्यक्तिवादी संगठन लोकहित का स्वांग रचकर निहित स्वार्थो की पूती के लिए समाज के परिवेश से शक्ति संग्रह करते हैं और 'लोक' को अनुयाई के रूप में गुलाम बनाते हैं। हम जब भी ऐसे संगठनों की संरचना का निरीक्षण करते हैं तो इनके निर्माण का आधार उपरोक्त लिखे गए सिद्धान्तों में ही निहित होता है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था को शासन–पद्धति के रूप में स्वीकार कर चुके देशो में व्यवस्था के निर्वहन के लिए बनने वाली सरकारें भी ऐसे विभिन्न संगठनो के मत–मतान्तरों का सहारा लेकर भीड पर बहुमत के आधार पर अपना वर्चस्व स्थापित करती हैं और अपने अस्तित्व को निरन्तर बनाए रखने के लिए वर्ग–संघर्ष को प्रोत्साहन देने वाले कानूनों का निर्माण करती हैं। लेकिन जनता की नजरो में किसी भी सरकार का ऐसा प्रयास केवल तब गलत हो सकता है जब समाज (सम्पूर्ण विश्व) में केवल वह ही ऐसी गलती कर रही हो! भारत की तात्कालिक सरकार ने भी इसी तर्क का संरक्षण पाकर नागरिकता संशोधन कानून का निर्माण किया है। हम जब भारत की स्वतन्त्रता के बाद के राजनीतिक परिप्रेक्ष्य का अध्ययन करते हैं तो यह तस्वीर साफ होती है कि भारत में साम्यवादियों के नीति–निर्देशन में जिस भोंथरे समाजवाद का विकास हुआ है उसके अनुसार इस्लामिक एवं

इसाई साम्प्रदायिक तुष्टीकरण को ही समाजवाद मान लिया गया है। भारत के इन तथाकथित समाजवादियों जिनमें साम्यवादी, कांग्रेस तथा दूसरे कई अन्य राजनीतिक संगठन भी शमिल हैं, इनका राजनीतिक ताण्डव यहीं नही रूका, इन्होनें हिन्दु समुदाय के बाहुलतावाद को दबाकर हमेशा इसके जातीय वैमनस्य को हवा देने के कपटता पूर्ण प्रयास किए हैं। जबकि पिछले सात–आठ दशको में दुनिया के अनेक देशो में व्यवस्था का चक्र संगठनवादी धर्म और पूँजीवादी राष्ट्रवाद के विचारों के चारों ओर घूमता रहा है।

दुनिया के अनेक देशों में नागरिक सुरक्षा के नाम पर कठार कानूनों का निर्माण हुआ है। सर्वविदित है कि कई इस्लामिक देश तो ईश–निन्दा के नाम पर व्यक्ति को मृत्यु दण्ड देने के कानून भी बना चुके हैं और चीन में तो लोकतन्त्र की मांग पर बीजिंग शहर में सामूहिक नर–संहार करा दिया गया था। लेकिन तब भी इस विषय को लेकर कहीं पर भी भारत के जैसा वर्ग–संघर्ष देखने को नही मिलता! इन तमाम परिस्थितियों में भारत में यहाँ के तथाकथित समाजवादी सत्ताधीषों के विरूद्ध भीड के मानस में जो राजनीतिक प्रतिक्रियावाद जन्म ले रहा था, उसने भारत की मृतप्राय दक्षिणपन्थी राजनीति को जवांन कर दिया और आज इस कठोर दक्षिणपन्थी राजनीति के पक्ष में भारत में वैसे ही जनमत खडा है जैसे साऊदी अरब में इस्लाम के साथ, चीन में साम्यवाद के साथ और अमेरिका में पूँजीवादी राष्ट्रवाद के साथ खडा है। यह पूँजीवादी राष्ट्रवाद तो व्यक्ति को अपना मत प्रकट करने को तब भी कुछ आजादी देता है लेकिन चीन एवं साऊदी अरब जैसे देशो में तो व्यक्ति, राज्य तथा उसके राजकीय ईश्वर के विरूद्ध जुबान भी नही खोल सकता है। अलबत्ता भारत के भौथरे समाजवाद ने निश्चित वर्ग तुष्टीकरण में अपना राजनीतिक हित देखना बन्द नही किया तो निश्चित रूप से दक्षिण–पन्थ भारत की केन्द्रीय राजनीति पर अपना वर्चस्व बनाए रखेगा। क्योंकि व्यवस्था के क्रियान्वयन का सच यह होता है कि राजनेताओं द्वारा किया जाने वाला वर्ग तुष्टीकरण का प्रयास व्यवस्था के जन सुरक्षा के अभिप्राय को सिद्ध नही करता है। हाँ यदि व्यवस्था, व्यक्ति की सुरक्षा के उत्तरदायित्व का निर्वहन करती है तो सम्पूर्ण समाज का परिवेश स्वतः ही सुरक्षित हो जाता है और यदि व्यवस्था के जरिए समाज के किसी वर्ग को निजी तौर पर संरक्षित करने के प्रयास किए जाते हैं तो बाकी समाज में भयंकर प्रतिक्रिया होती है। वर्तमान भारतीय समाज में ऐसा ही प्रतिक्रियावाद हो रहा है। लेकिन इस प्रतिक्रियावाद के विरोध का अधिकार न कांग्रेस रखती है, न बहुजन समाज पार्टी, न समाजवादी पार्टी, न अन्य कोई भी राजनीतिक संगठन, न इस्लाम और न साम्यवाद! हाँ यदि इन सब संगठनो में निहित तमाम व्यक्ति भारत सरकार द्वारा बनाए गए इस असामाजिक कानून के विरोध करने का नैसर्गिक अधिकार पाना चाहते हैं तो इन्हें न केवल भारत के बल्कि दुनिया भर के ऐसे व्यक्तिवादी संगठनों का अस्तित्व मिटाना होगा तभी व्यक्ति पर समाज के वर्चस्व की स्थापना हो सकेगी। क्या पाकिस्तान, अफगानिस्तान तथा बांग्लादेश के इस्लाम के अनुयाई स्वयं को सामाजिक बहुलतावाद के प्रति उत्तरदायी सिद्ध कर सकते हैं? क्या उन्हें इस प्रयास में कोई समस्या आनी चाहिए? भारत के मुसलमान उस दशा में इन देशों की सरकारों से उनके यहाँ रह रहे अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा का प्रश्न क्यों नही करते जब ये भारत के बाहर रह रहे मुस्लिमों के प्रताडित होने पर अनेक बार उनके पक्ष की आवाज उठाते हैं! यदि आप ऐसा नही करेगें तो आप भारत के व्यवस्था–तन्त्र से ऐसी कोई मांग कैसे कर सकते हैं कि भारत का व्यवस्था तन्त्र अपने राज्य क्षेत्र में बाहर के देशों में प्रताडित किए गए लोगों के साथ प्रताडना देने वाले लोगों को भी बराबरी का अधिकार दे दे। इस परिस्थिति में क्या न्याय का दृष्टिकोण इस कानून का विरोध करने वाले लोगों के तर्क को ठीक ठहरा सकता है? समाज में बहुलतावाद की आड में व्यक्तिवादी एवं संगठनवादी संस्कृतियों

को कानूनन संरक्षण नही मिलना चाहिए अन्यथा व्यक्तियों का समूह भी कभी समाज नही बन सकेगा और समाज के परिवेश में वर्ग संघर्ष यूं ही तांडव करता रहेगा।

समाज का परिप्रेक्ष्य और वैयक्तिक विधियां :–

मेरे सामाजिक अनुसंधान में यह विषय बार–बार मेरे सामने आया है कि व्यक्ति की सामाजिक संरचना का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक शब्दों का मूल अर्थ तथा व्यक्ति के आचरण से विकसित समाज के अनेक स्वरूप अथवा व्यवस्था बहुदा एक दूसरे के विरोधाभाषी होते हैं। समाज में व्यापक रूप से प्रचारित समुदाय, सम्प्रदाय अथवा संगठनात्मक धर्म तथा समाज ऐसे ही शब्द हैं। व्यक्ति अपने दैनिक जीवन में इन शब्दों का प्रयोग अनेक बार इनके मूल अर्थ के विरुद्ध ही करता है। जैसे समुदाय मूलतः ऐसे व्यक्तियों का समूह होता है जिसमें अनेक प्रकार के गुण, पेशे एवं मत–मतांतर के लोग सम्मिलित होते हैं न कि यह ऐसे व्यक्तियों का समूह होता है जिसमें एक ही जाति या सम्प्रदाय अथवा संगठनात्मक धर्म के अनुयाई होते हैं। (पहचान प्रधान धर्म, पन्थ, सम्प्रदाय एवं जाति की आकृति संगठनात्मक होती है; इसलिए इनके व्यवहार में सामुदायिक प्रभाव नहीं होता है।) समुदाय के विषय में प्रस्तुत मेरे तर्क का आशय यह है कि समुदाय के निर्माण का वैचारिक आधार व्यक्तिवाद या संगठनवाद नहीं होता और व्यक्तिवाद का अर्थ व्यक्ति का नितांत अकेलापन ही नहीं होता बल्कि अनेक लोगों के लिए निर्मित वह व्यवस्था भी व्यक्तिवादी ही होती है जिसका प्रवर्तक कोई एक व्यक्ति या विचार होता है और जो समाज के सामाजिक स्वरूप से समन्वय न करके केवल अपनी व्यवस्था के सिद्धान्त को ही समाज निर्माण का आधार मानती है। संगठनात्मक धर्म, पन्थ, सम्प्रदाय, जाति ऐसी ही व्यवस्थाएं होती हैं। ऐसी व्यक्तिवादी अवधारणा के आधार पर एकत्रित व्यक्ति समूह अत्यंत कठोर एवं समाज भाव से विरक्त संगठन के रूप में विकसित हो जाते हैं। दुनिया में इस्लाम, ईसाई, सिख, बौद्ध जैसे संगठनात्मक धर्म एवं हिन्दू धर्म की ब्राह्मण, राजपूत, जाट, चमार जैसी अनेक जातियों की उत्पत्ति इसी सिद्धान्त के आधार पर हुई है। अक्सर व्यक्तिवाद की ऐसी अवधारणाएं संगठनवाद में परिवर्तित हो जाती हैं। इस प्रकार किसी संगठनात्मक धर्म अथवा सम्प्रदाय एवं जाति के अनुयाई यदि स्वयं को समाज की इकाई के रूप में व्यक्त करते हैं तो यह किसी भी अनुयाई के द्वारा सम्प्रदाय तथा समाज के मूल अर्थ के विरुद्ध आचरण होता है; अर्थात संगठनात्मक धर्म अथवा सम्प्रदाय के अनुसार व्यक्ति की पहचान उसके गुण–कर्म–स्वभाव के अनुसार न होकर उसकी वेश–भूषा, पूजा–पद्धति जैसे निजी विषयों से होती है। इन विषयों के अनुसार जीवन निर्वाह करने वाले व्यक्ति, समाज शब्द के विषय में भी ऐसी ही भ्रांतियों का प्रचार करते हैं; जैसे हिन्दू धर्म के अनुयाईयों के समूह को हिन्दू समाज कहा जाता है और मुस्लिम धर्म के अनुयाईयों को इस्लाम समाज इत्यादि।

वस्तुतः न केवल भारतीय समुदाय में बल्कि वैश्विक समाज में ऐसी भ्रांतियों के फैलने का कारण समाज शब्द की परिभाषा के अनुसार समाज की संरचना का न होना रहा है। इस तर्क के परिप्रेक्ष्य में हम भारत के समाज को देखें तो अंग्रेजों से राजनीतिक स्वतन्त्रता मिलने के समय भारत की संवैधानिक व्यवस्था में 'समान नागरिक संहिता' का निर्माण करके हम अपने जन समुदाय को एक सामाजिक समाज बना सकते थे। लेकिन भारत के संविधान निर्माता न केवल ऐसा करने में असमर्थ रहे बल्कि देश की विधिक व्यवस्था में 'हिन्दू कोड बिल' जैसे अनावश्यक विषय के नियमन को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना बैठे! इस विमर्श में यह तर्क यह महत्वपूर्ण प्रश्न पैदा करता है कि भारत के संविधान निर्माताओं ने जिस विधि के द्वारा भारत के हिन्दू समुदाय के रूढ़िवादी ढाचे का उन्मूलन करने का प्रयास किया, क्या वह भी गलत था? भारत के संविधान में हिन्दू कोड बिल के विधिक समायोजन का पक्ष लेने वाले लोगों का यह तर्क होता है कि दुनिया

में हिन्दू धर्म के अनुसार जीवन निर्वाह करने वाले लोग धर्म आधारित किसी सार्वदेशिक समाज संहिता के अभाव में क्षेत्रवाद, स्थानीय रूढ़ियों एवं व्यक्ति के सामाजिक स्वरूप का पतन करने वाली परम्पराओं को ही अपनी समाज व्यवस्था का आधार मानते हैं अथवा मनुस्मृति एवं अन्य कई पौराणिक ग्रन्थ भी ऐसी किसी धार्मिक समाज संहिता का रूप नहीं है जैसे इस्लाम एवं इसाई धर्म में क्रमशः कुरान एवं बाइबिल जैसे ग्रन्थ धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। ऐसा न होने का परिणाम यह है कि हिन्दुओं का कोई सामाजिक संगठन नहीं है। एक व्यक्ति सामाजिक दृष्टिकोण से जिस परम्परा को अपने लिए ठीक बताता है तो कोई दूसरा उसे समाज विरोधी सिद्ध कर देता है। हिन्दू धर्म में इसके सभी जाति–वर्गों के लिए समान तथा धर्म के प्रति उत्तरदायी विधिक संहिता न होने के कारण इसके विभिन्न अनुयाईयों में श्रेष्ठता का भयंकर द्वन्द रहता है। इसके बेडोल ढाँचे की तुलना जब इस्लाम, इसाइ तथा भारतीय परिवेश में जन्मे बौद्ध, जैन एवं सिक्ख जैसे संगठनात्मक धर्मों से की जाती है तो हिन्दू धर्म के अनेक अनुयाई भी अपने धर्म को इन्हीं के जैसा सांगठनिक स्वरूप देने की बात कहते हैं। इस विषय में यह महत्वपूर्ण तक भी दिया जाता है कि अपने धार्मिक संगठनवाद के कारण इस्लाम एवं इसाई जैसे साम्प्रदायिक धर्म दुनिया भर में अपना विस्तार कर पाए हैं जबकि हिन्दू धर्म कालांतर में अपने प्राचीन विस्तार को ही संभाल कर नहीं रख पाया है। भारत में हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था के विषय में डॉक्टर अम्बेडकर, पण्डित ज्वाहरलाल नेहरू तथा अन्य प्रगतिशील सोच समझ के लोग हिन्दू जनमानस का ऐसा सामाजिक ढाँचा बनाना चाहते थे जिसमें जीवन प्रणाली से पैतृक वर्ण व्यवस्था, जातिवाद, विवाह पद्धति, उत्तराधिकार, अव्यस्कता एवं संरक्षण जैसे अन्य कई विषयों पर समाज की परम्परागत एवं रूढ व्यवस्था का उन्मूलन होकर नई व्यवस्था प्रणाली बने; हिन्दुओं का व्यवस्थित एवं संगठनात्मक ढाँचा बनाने के लिए हिन्दुओं की धार्मिक–सामाजिक संहिता के रूप में पण्डित नेहरू के समर्थन से डॉक्टर अम्बेडकर ने हिन्दू कोड बिल का प्रस्ताव तैयार किया। दूसरी ओर इस विधि का विरोध करने वाले लोग रहे हैं। मेरे विचार से इस विषय का विरोध करने वाले लोग भी दो सिद्धान्तों के आधार पर विभाजित रहे हैं। एक–हिन्दू धर्म के रूढ स्वरूप को अपनी समाज व्यवस्था के रूप में स्वीकार करने वाले लोग, जिसमें पैतृक वर्ण व्यवस्था, पुरुष समाज सत्ता, परम्परागत परिवार एवं जातिवादी ढाँचा यथावत बना रहे। दूसरा–जो लोग सनातन धर्म के स्वरूप को गुण–कर्म–स्वभाव के आधार पर परिभाषित करते हैं। वस्तुतः इस विषय को समझने के लिए इस तर्क पर विचार करना आवश्यक है कि मानव सभ्यता के विस्तार में एकेश्वरवाद के प्रभाव ने सनातन धर्म जैसी व्यक्तिवाद या संगठनवाद से विरक्त सामाजिक जीवन प्रणाली को कठोर साम्प्रदायिक व्यवस्था में परिवर्तित होने के लिए बहुत प्रभावित किया। भारत में इस्लाम के आगमन के बाद एकेश्वरवाद का प्रभाव तेजगति से बढ़ता चला गया दूसरी ओर लोग यहाँ अपनी जातीय परम्पराओं में उलझे रहे। इसका प्रभाव यह रहा कि सनातन धर्म की गुण–कर्म–स्वभाव पर आधारित वर्ण व्यवस्था को साम्प्रदायिक शक्ति सन्तुलन के लिए स्वायत्त जातीय व्यवस्था में बदलने के लिए मजबूर होना पड़ा। मानव सभ्यता के विकास के अनुसार दुनिया में राज्य व्यवस्था के निर्माण एवं इनके विस्तार में जिस प्रकार धर्म–संस्कृति एवं एकश्वरवाद के सिद्धान्त को आधार बनाया गया यदि भारत में सनातन धर्म–संस्कृति के अनुसार जीवन निर्वाह करने वाले लोगों ने अपनी जीवन प्रणाली को कठोर जातीय व्यवस्था में न बदला होता तो एकेश्वरवाद का कठोर एवं उदण्ड स्वरूप धर्म के सनातन स्वरूप को समूल निगल गया होता! दुनिया भर के विभिन्न क्षेत्रों के विभिन्न काल–खण्डों के इतिहास का जब निरीक्षण करते हैं तो यह सत्य सिद्ध होता है कि धर्म आधारित राज्य निर्माण के सिद्धान्त ने व्यक्ति एवं समाज के लिए न्याय एवं सुरक्षा के सिद्धान्त के अनुसार निर्मित होने वाले राज्य की परम्परा को लुप्त कर दिया। धर्म तथा जाति पर आधारित राज्य, समाज

के सामाजिक स्वरूप का पतन कर देता है, जबकि सनातन धर्म पद्धति में समाज का ढाँचा न तो किसी संगठनात्मक धर्म संहिता के आधार पर निर्मित होता है और न धर्म का यह विचार राज्य के किसी आकार को निर्मित करता है।

वस्तुतः सनातन धर्म जिसे कालान्तर में हिन्दू धर्म कहा गया है यह किसी व्यक्ति समूह की व्यवस्था नहीं है; बल्कि एक जीवन पद्धति है। व्यवस्था एवं पद्धति के आचरण में अन्तर होता है। प्रबन्ध के दृष्टिकोण से देखें तो व्यवस्था, समाज में सन्तुलन की स्थापना के लिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सीमांकन करती है; इसे घेरे में बांधती है। व्यक्ति के लिए स्थापित सार्वजनिक व्यवस्था के ढाँचे में परिवर्तन बड़ा दुष्कर कार्य होता है; भले ऐसी व्यवस्था देशकाल परिस्थिति की कसौटी पर खरी न उतरती हो! जबकि पद्धति का आचरण तो एक पथ की तरह होता है। इसका कोई घेरा नहीं होता, यह तो विचरण का साधन होता है। घेरे की तो निजता होती है, इसकी सीमाओं में जो भी कोई प्रवेश करता है उसे अपनी स्वतन्त्रता का त्याग करना पड़ता है। जबकि पथ की निजता तो पथिक की स्वतन्त्र यात्रा में निहित होती है। पथ केवल तभी तक पथ कहला सकता है जब तक यह ठहराव से मुक्त होता है। जीवन संचरण के दृष्टिकोण से व्यवस्था एवं पद्धति के अनुशासन में यह मूल अन्तर होता है कि व्यवस्था जीवन को स्थिर बनाती है और पद्धति उसे गति देती है। यह सच है कि जीवन की नियति ठहराव नहीं हो सकती है, कोई घेरा नहीं हो सकती है, बल्कि जोवन की नियति व्यतीत होना है; यह एक यात्रा के समान होता है। इसलिए इसे ऐसी व्यवस्था के घेरे में बांधना अनावश्यक है जो इसे समाज विस्तार के पथ पर स्वतन्त्र गमन से रोके, बल्कि इसे ऐसी जीवन पद्धति के अनुसार यात्रा करने के लिए स्वतन्त्र रहने दे जो इसे समाज एवं प्रकृति से विमुख न करे। दुनिया में जितनी भी मनुष्य कृत धार्मिक व्यवस्थाएं हैं इनमें केवल सनातन धर्म ही जीवन पद्धति के रूप में विकसित हुआ है अन्य सभी धर्म बन्द व्यवस्थाएं हैं जो व्यक्ति को न तो उसके प्राकृतिक गुण–कर्म–स्वभाव के अनुसार स्वतन्त्र रहने की अनुमति देती हैं और न परिस्थिति के अनुसार व्यक्ति को व्यवस्थित करती हैं।

अलबत्ता भारत के संविधान में हिन्दू कोड बिल का समायोजन होने पर हिन्दुओं की अनेक रूढियों का उन्मूलन हो जाना था, जैसा कि इस विषय के विभिन्न प्रावधानों को दूसरे तरीकों से व्यवस्था का भाग बनाकर किया गया। लेकिन यह प्रयास यह महत्वपूर्ण प्रश्न पैदा करता है कि हमारे संविधान निर्माता एवं सरकार जिस हिन्दू कोड बिल के द्वारा हिन्दुओं की समाज व्यवस्था को सुधारना चाहते थे, उससे कहीं ज्यादा बेहतर परिणाम तो भारत के संविधान में समान नागरिक संहिता के विषय का समायोजन करके प्राप्त किया जा सकता था! वस्तुतः भारत के लोगों की समाज व्यवस्था के समुचित प्रबन्ध के लिए समान नागरिक संहिता ही सर्वोचित प्रकार है। यह विषय बार–बार कहे जाने योग्य है कि भारत के संविधान निर्माता एवं सरकार के नजरिए के अनुसार हिन्दू कोड बिल तो केवल हिन्दुओं की समाज व्यवस्था को सुदृढ़ एवं संगठित बना पाता जबकि समान नागरिक संहिता तो भारत के सम्पूर्ण जनमानस की समाज व्यवस्था का ही सुदृढ़ीकरण कर देती। तब इस विषय का विरोध करने का किसी के पास कोई आधार नही होता। लेकिन आश्चर्य कि भारत के व्यवस्था–कार इस करने योग्य कार्य के करने में असफल रहे!

वस्तुतः किसी व्यक्ति समूह, सम्प्रदाय, जाति अथवा वर्ग की वैयक्तिक विधि का अर्थ केवल यही तो हो सकता है कि इसके दायरे में बंधा हुआ अथवा व्यवस्थित व्यक्ति समाज व्यवस्था से या तो विरक्त रहता है अथवा विरुद्ध रहता है; अर्थात किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह की वैयक्तिक विधि के निर्माण की कसौटी सामाजिक समन्वय का विरोध ही होती है। लेकिन यह तर्क हमारे सामने यह महत्वपूर्ण प्रश्न पैदा करता है कि क्या स्वराज्य की सैद्धान्तिक परिकल्पना के अनुसार निर्मित प्रणाली भी व्यक्ति के जीवन को व्यक्तिवादी बना देगी? मेरे विचार से इस प्रश्न का उत्तर

यह है कि व्यक्ति जब जीवन संचरण की व्यवस्था के प्रति अपनी मौलिक स्वतन्त्रता का समाज व्यवस्था की विभिन्न इकाइयों में समन्वय करता है तो उत्तरदायी व्यवस्था के निर्माण का यह सिद्धान्त समाज के परिवेश से व्यक्तिवाद की दशा का स्वतः ही उन्मूलन कर देता है। जीवन की उत्पत्ति और संचरण अकेले व्यक्ति के वश का कार्य नहीं है। इसलिए व्यक्ति को अपने विवेक के आधार पर जीवन की दशाओं का ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए जिसमें समन्वय एवं उत्तरदायित्व के निर्वहन से कोई मुक्त न हो तथा जो व्यक्ति इस आदर्श सिद्धान्त का पालन न करे उसे सार्वजनिक व्यवस्था के द्वारा संचालित किया जाए। व्यक्ति की व्यक्तिगत तथा समाज व्यवस्था के बीच समन्वय का बनना बहुत आवश्यक है अन्यथा किसी भी व्यवस्था के निर्माण का कोई उद्देश्य ही निर्धारित नहीं किया जा सकता है। व्यक्ति को जीवन के विस्तार के अनुसार उन व्यवस्थाओं का उन्मूलन कर देना चाहिए जो समाज के सामाजिक स्वरूप के विरुद्ध होती हैं। चाहे वह मुस्लिमों की वैयक्तिक व्यवस्था हो अथवा हिंदुओं की अथवा अन्य कोई भी! समाज के विस्तार में समाज के अतिरिक्त ऐसी कोई भी व्यवस्था अथवा विधि नहीं होंनी चाहिए जो स्वयं को समाज के परिप्रेक्ष्य से स्वतन्त्र स्वीकार करती हो। वैयक्तिक विधियों का यदि कोई महत्व हो सकता है तो केवल इतना कि ऐसी विधियां केवल व्यक्ति के व्यक्तिगत विषयों तक सीमित हों! इनका कोई सामाजिक आधार नही हो सकता है।

समाज और लोक स्वराज्यः—

दुनिया भर में विकसित समाज तथा राज्य व्यवस्था के अनेक सिद्धान्तों की तरह लोक—स्वराज्य की अवधारणा भी मानव मस्तिष्क की एक उपज है। यद्यपि ज्ञात विश्व में कहीं भी लोक—स्वराज्य के सिद्धान्त के आधार पर व्यवस्था का निर्माण नहीं हुआ है। व्यक्तिकृत व्यवस्था का आचरण जब लोक जीवन को सुचारू तथा वर्चस्ववाद से मुक्त बनाता है तब लगता है कि व्यवस्था द्वारा लोक—स्वराज्य की अवधारणा चरित्रार्थ हो रही है, दूसरी ओर जब व्यवस्था जीवन की मौलिक स्वतन्त्रता का प्रसार रोकती है तब समाज के पटल पर गुलामी का प्रसार होता है। लेकिन प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों होता है? मेरे विचार से किसी भी व्यवस्था का स्वरूप चिरस्थाई नही होता है। देशकाल परिस्थिति के अनुसार व्यवस्था के स्वरूप में बदलाव आना अवश्यम्भावी होता है। यदि समाज अपनी व्यवस्था के ढाँचें में समयानुसार अपने आकार—प्रकार में आये बदलाव की आवश्यकतानुसार बदलाव स्वीकार नहीं करता है तो समाज का मौलिक सन्तुलन तथा समाज के प्रति व्यवस्था की निष्ठा का ह्रास होता है, क्योंकि तब पूर्व निर्मित व्यवस्था काल—वाह्य हो चुकी होती है। इस विमर्श में उपरोक्त किए गए प्रश्न का स्पष्टीकरण यह है कि व्यवस्था के नियोजन का भौतिक उद्देश्य जीवन संचरण को सुचारू बनाना है अथवा समाज के मानस में न्याय एवं सुरक्षा का भाव स्थापित करना व्यवस्था का कार्य होता है। लेकिन समाज तथा राज्य के विषय में किसी भी व्यवस्था के निर्माण के उद्देश्य तथा इसके निर्वहन के प्रकारांतर के बीच एक विरोधाभाषी दशा पैदा हो जाती है। इस दशा में समाज सदैव यह चाहता है कि व्यवस्था (राज्य) निष्ठा पूर्वक अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्य करे ताकि व्यक्ति का जीवन सुचारू बने तथा वर्चस्ववाद से मुक्त हो वहीं दूसरी ओर व्यवस्था का निर्वाहक अर्थात राज्य, समाज को सदैव सुराज्य अथवा सुशासन की ओर ले जाने का प्रयास करता है। क्योंकि राज्य का यह दृष्टिकोण होता है कि समाज की जोवन पद्धति को सुचारू बनाने एवं इसे सामाजिक वर्ग संघर्ष अथवा वर्चस्ववाद से मुक्त करने के लिए व्यवस्था के निकायों का व्यक्ति तथा समाज से शक्तिशाली होना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण के अनुसार निर्मित राज्य की कार्यप्रणाली व्यक्ति के सामाजिक स्वरूप का पतन कर देती है जिसके परिणाम स्वरूप इसका जातीय संगठनवाद प्रबल होता चला जाता है। इस दशा का बहुत

तीक्ष्ण उदाहरण भारतीय समाज का जातिवादी ढाँचा है। भारतीय समाज में अनेक लोग उन महापुरुषों के व्यक्तित्व तथा कर्तृत्व को जातीय धरोहर सिद्ध करने में लगे रहते हैं जिन्होंने जीवन भर धर्म, जाति, सम्प्रदाय, क्षेत्र, भाषा जैसे वर्ग संघर्ष के अनेक विषयों का उन्मूलन करके व्यक्ति तथा समाज के सामाजिक स्वरूप का निर्माण करने का प्रयास किया है। व्यक्ति को राज्य की सुशासन प्राप्त कराने की हनक तथा व्यक्ति का समाज की सामाजिक अवधारणा के विरुद्ध वर्गवादी संगठनवाद को महत्व देन का यह परिणाम है कि आज व्यवस्था के अनेक ढाँचे व्यक्ति की मौलिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध बन गए हैं। आधुनिक दुनिया में समाज, व्यक्ति तथा व्यवस्था (राज्य) के इस दोष में त्रस्त है।

अब प्रश्न पैदा होता है कि इस दोष या समस्या का निराकरण क्या है? वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर केवल यह है कि जिस व्यवस्था पद्धति के निर्वहन से जीवन सन्तुलित न हो सके हमे उसे बदल देना चाहिए! मैं अपने सामाजिक अनुसंधान में इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि व्यक्ति–समुदाय की सभी समस्याओं का कारण शक्ति केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त पर आधारित इसकी राज्य व्यवस्था की पद्धति है। इस राज्य पद्धति का उन्मूलन हुए बिना न तो व्यक्ति मौलिक स्वतन्त्रता का भोग कर सकता है और न वर्चस्ववाद से मुक्त हो सकता है। अलबत्ता यह विमर्श यह प्रश्न भी पैदा करता है कि शक्ति के अभाव में किसी भी विषय–वस्तु का सृजन एवं निर्वहन असम्भव है। यदि हमारी व्यवस्था शक्ति के केन्द्रोयकरण के सिद्धान्त पर आधारित न होकर स्वराज्य के सिद्धान्त के अनुसार निर्मित हो तो कैसे तो ऐसी व्यवस्था बनाई जा सकती है और कैसे उसका निर्वहन होगा?

क्योंकि यह स्पष्ट है कि स्वराज्य के सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्रता असीम होती है तो क्या तब व्यक्ति का निरंकुश अथवा उदण्ड बनने का भय नहीं होगा? इस शंका के निराकरण हेतु मेरा सबसे पहला कथन तो यह है कि व्यक्ति को प्राप्त स्वराज्य इसकी स्वतन्त्रता का सार्वभौम प्रसार तो करता है लेकिन किसी अन्य की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करता। परस्पर व्यवहार में जब व्यक्ति या व्यवस्था किसी अन्य की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने के लिए स्वतन्त्र होता है तो वह या तो तानाशाही की दशा होती है या तब सार्वजनिक व्यवस्था अनुत्तरदायी होती है। यह सर्वविदित कथन है कि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है, इसलिए यह सार्वभौमिक स्वतन्त्रता का सोपान भी समन्वय अथवा सहजीवन की सीढ़ी चढ़कर ही कर सकता है, न अकेले रह कर और न अन्य की स्वतन्त्रता का दमन करके। स्पष्ट है कि अकेले रहने की दशा में स्वतन्त्रता के आंकलन का प्रश्न ही पैदा नहीं हो सकता है और किसी के द्वारा किसी की स्वतन्त्रता का दमन करने का अर्थ, कर्ता के स्वराज्य का प्रसार नहीं बल्कि वर्चस्ववाद की स्थापना होता है। व्यक्ति के लिए स्वराज्य का अर्थ यह है कि यह न किसी के नियन्त्रण में रहने के लिए है और न इसे किसी अन्य व्यक्ति को नियन्त्रित करने का अधिकार हो सकता है। जीवन सृजन एवं संचरण के लिए व्यक्ति को अन्य से समन्वय करना आवश्यक है लेकिन यह अधिकार को परिभाषित करने का विषय नहीं है। जब व्यवस्था व्यक्ति के मौलिक अधिकार को परिभाषित करती है तब वह इस पर अपने नियन्त्रण के मनोभाव का परित्याग नहीं कर पाती है। जीवन संचरण के लिए व्यक्ति सदैव अपनी आवश्यकतानुसार व्यवस्था के सृजन, निर्वहन और परित्याग के लिए स्वतन्त्र रहता है किन्तु यह सिद्धान्त इस मर्यादा का भी जन्मदाता है कि व्यक्ति किसी अन्य के जीवन संचरण में हस्तक्षेप के लिए स्वतन्त्र नहीं हो सकता है। वस्तुतः स्वराज्य का सिद्धान्त व्यक्ति के उदण्ड अथवा निरंकुश स्वरूप का प्रसार नहीं करता क्योंकि निरंकुश व्यक्ति स्वराज्य का पतन कर देगा बल्कि यह तो व्यक्ति को प्राप्त मौलिक स्वतन्त्रता के भोग के लिए इसे परस्पर रूप से अथवा सहजीवन पद्धति के अनुसार व्यवस्थित रहने हेतु नियमबद्ध करता है। इस व्यवस्था की नियमावली का सृजन शासन अथवा व्यवस्थापक नहीं कर सकता है। इसका निर्माण करने के लिए समाज स्वयं अथवा समाज

द्वारा निर्मित कोई ऐसी स्वतन्त्र इकाई होनी चाहिए जिसे व्यवस्था चलाने का कोई अधिकार न हो। स्वराज्य के सिद्धान्त के आधार पर निर्मित व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्ति पर कानून का शासन स्थापित करना नहीं होता बल्कि इसका कार्य उदण्ड व्यक्ति पर नियन्त्रण करना होता है। भौतिक विकास हेतु निर्माण, स्थापना, योजना, उद्यम जैसे सभी कार्य तथा समाज के सामाजिक ढाँचे की संरचना पर सरकार का नियन्त्रण नहीं होना चाहिए बल्कि ऐसे सभी कार्यों पर समाज अथवा इसके द्वारा कृत व्यवस्था का नियन्त्रण होना चाहिए। राज्य का मूल कार्य समाज को न्याय एवं सुरक्षा प्राप्त कराना है समाज की जीवन पद्धति बनाना नहीं। जैसा कि यथार्थ तक सभी प्रकार की राज्य पद्धतियों के आधार पर बनने वाले राज्य करते आए हैं, मानव सभ्यता के लिए यह अत्यन्त दुख का विषय है कि लोकतन्त्र जैसी समाजकृत जीवन प्रणाली भी इस शासनात्मक दोष से मुक्त नहीं है। अन्य राज्य पद्धतियाँ तो इस विचार का ही उन्मूलन कर देती हैं। वर्चस्ववाद की स्थापना का यह मौलिक गुण होता है कि जब राज्य को समाज की व्यवस्था के नियम बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है तो यह उसके लिए समाज पर शासन करने का मार्ग सिद्ध हो जाता है।

दुनिया में लोक स्वराज्य के सिद्धान्त के आधार पर व्यवस्था का निर्माण करने के लिए पौराणिक भारतीय समाज में वर्णित व्यक्ति के गुण–कर्म–स्वभाव के आधार पर निर्मित होने वाली सामाजिक वर्ण व्यवस्था से भी मार्गदर्शन प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन यह ध्यान रहे कि मेरे दृष्टिकोण में पैतृक वर्ण व्यवस्था या जाति व्यवस्था का कोइ महत्व नहीं है। यह निश्चित है कि पैतृक वर्ण व्यवस्था या जाति व्यवस्था के आधार पर जीवन निर्वाह करने वाले व्यक्ति को सामाजिक इकाई के रूप में निर्मित नहीं किया जा सकता है। व्यक्ति के गुण–कर्म–स्वभाव के आधार पर निर्मित वर्ण व्यवस्था का अर्थ व्यक्ति की योग्यता के अनुसार समाज तथा जीवन निर्वाह के कार्यों में भागीदारी है न कि पैतृक आधार पर निर्मित जाति या वर्ण व्यवस्था व्यक्ति की श्रेणी एवं कार्यों का निर्धारण कर सकती है। किन्हीं माता–पिता की जितनी संतान होती हैं उनका वर्ण उनके गुण–कर्म–स्वभाव के अनुसार ही निर्धारित होना चाहिए, जैसे किसी माता–पिता की दो संतानों में से एक का वर्ण ब्राह्मण हो सकता है और दूसरे का शूद्र। शूद्र माता–पिता को ब्राह्मण संतान पैदा हो सकती है और ब्राह्मण माता–पिता को शूद्र संतान। यह मूल्यांकन करने का कार्य समाज–व्यवस्था का होना चाहिए, न तो कोई पिता या अभिभावक ऐसा कर सकता है और न यह राज्य के अधिकार का विषय है। ऐसी व्यवस्था पर लोकमत का नियन्त्रण होना आवश्यक है। व्यवस्था का यह स्वरूप यह संदेश भी देता है कि जनता देशकाल परिस्थिति के अनुसार व्यवस्था का पुनर्निर्माण करने के लिए स्वतन्त्र होनी चाहिए। इस आधार पर बनने वाली समाज व्यवस्था में लोक स्वराज्य का प्रसार इस आधार पर होगा कि व्यक्ति अपने गुण–कर्म–स्वभाव के अनुसार प्राप्त कार्य को सर्वाधिक सन्तुष्टि से करता है। ''व्यक्ति को अपनी जीवनशैली से आत्मिक सन्तुष्टि का भाव प्राप्त होना ही उसकी अपने पर स्वराज्य की प्राप्ति है।'' इसलिए गुण–कर्म–स्वभाव के आधार पर निर्मित वर्ण व्यवस्था सर्वोचित समाज की संरचना कर सकती है। अक्सर समाज में इस विषय पर यह चर्चा भी होती रहती है कि व्यक्ति के गुणों के आधार पर वर्ण व्यवस्था का निर्माण एक कल्पना भर है, इसका वास्तविक आधार पैतृक वर्ण अथवा जाति व्यवस्था ही है। यदि यह सच भी है तो हमे अब इसे बदल देना चाहिए क्योंकि मैं पुनः कहता हूँ कि जब समाज व्यवस्था व्यक्ति के गुण–कर्म–स्वभाव के आधार पर बनेगी और चलेगी तो स्वतः ही समाज में वर्चस्ववाद का निराकरण हो जाएगा। य़द्यपि अनेक लोग समाज में इस वर्ण व्यवस्था के पुनर्निर्माण को सर्वथा अनुचित ठहराएगें। मेरे विचार से ऐसा कहना उन लोगों की वैचारिक स्वतन्त्रता है। लेकिन ऐसे लोगों को समाज की जीवन पद्धति से शासन पद्धतियों के वर्चस्व के उन्मूलन का कोई उपाय अवश्य बताना चाहिए, क्योंकि उपायहीन परामर्श हमें भ्रमित करता है। इस गुण–कर्म–स्वभाव के आधार पर बनने वाली

वर्ण व्यवस्था के पुनर्निर्माण की आवश्यकता समाज के सृजन एवं निर्वहन के लिए आवश्यक है। वर्ण व्यवस्था की मूल अवधारणा को सभी को समझ लेना चाहिए कि इस व्यवस्था में व्यक्ति के व्यक्तिगत विषय में समाज–व्यवस्था को निर्णय करने का अधिकार नहीं हो सकता है और व्यक्ति, समाज के विषय में निर्णय नहीं कर सकता है। क्योंकि ऐसा होगा तो फिर व्यवस्था में व्यक्ति के गुण–कर्म–स्वभाव का महत्व सिद्ध ही नहीं हो पाएगा और इस महत्व के सिद्ध होने पर व्यक्ति स्वतः ही स्वराज्य के भाव में जीवन निर्वाह करेगा।

मैं इस विमर्श में यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ कि हम जिस लोक स्वराज्य की अवधारणा प्रस्तुत कर रहे हैं इसमें तथा लोकतन्त्र में क्या अन्तर है? मेरे विचार से इस प्रश्न का उत्तर यह है कि न केवल भारत में बल्कि दुनिया भर में जहाँ कहीं भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था है वहाँ लोकतन्त्र के द्वारा जनता पर प्रतिनिधिक–सत्ता स्थापित की गई है और यह कहा जाता रहा है कि जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा जनता की बनायी हुई व्यवस्था का निर्वहन हो रहा है। असल में दुनिया भर में प्रतिनिधिक लोकतन्त्र का जो प्रकार क्रियान्वित है वह तो जनता पर उसी के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों का शासन है। इसमें जनता को बस यह राहत प्राप्त है कि जनता एक निर्धारित अंतराल पर अपने शासकों को बदल देती है, जबकि लोक स्वराज्य का अर्थ यह है कि जनता जब चाहे तब अपनी व्यवस्था पद्धति को बदल दे तब किसी सरकार का तो अस्तित्व ही क्या हो सकता है? प्रतिनिधिक लोकतान्त्रिक पद्धति का सबसे पहला दोष इसकी गलत निर्वाचन प्रणाली के रूप में सामने आता है। क्योंकि लोकतान्त्रिक प्रणाली में जनता अपना प्रतिनिधि किसी अन्य को चुनती है लेकिन उसे प्राप्त शक्ति का नियोजन किसी अन्य को सत्ता का केन्द्र बना देता है अर्थात लोकतन्त्र जो कि जनता पर जनता के प्रतिनिधियों के द्वारा ही शासन की स्थापना करता है यह कोई पारदर्शी तथा जनता के प्रति उत्तरदायी व्यवस्था का सिद्धान्त नहीं है। लोकतन्त्र से इतर धर्मतन्त्र, राजतन्त्र तथा साम्यवाद जैसे व्यवस्था के सिद्धान्त तो घोर तानाशाहो के वाहक हैं। ऐसी व्यवस्था में जनता को चाहे कितनी भी सुविधाएं क्यों न दी जाएं लेकिन अन्ततः यह राज्य की गुलामी ही होती है। ऐसी व्यवस्था में जनता का कोई मौलिक अधिकार नहीं होता है।

समान नागरिक संहिता–एक विमर्श :–

यह सार्वभौमिक सत्य है कि व्यक्ति सदैव से ही जीवन प्रबन्ध के लिए आवश्यकतानुसार व्यवस्था का निर्माण करता आया है। देश, धर्म, जाति, समाज जैसी अनेक प्रकार की व्यवस्था के सृजन का कारण व्यक्ति की कोई न कोई तत्कालीन आवश्यकता रही है। वस्तुतः व्यवस्था की मर्यादा यह होनी चाहिए कि किसी भी व्यक्ति एवं निकाय की व्यवस्था किसी अन्य के जीवन संचरण में उसकी मौलिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध हस्तक्षेप न कर सके! क्योंकि जब कोई व्यवस्था ऐसा आचरण करती है तो वह व्यवस्था के प्राकृतिक स्वरूप के विरुद्ध एक नियन्त्रण प्रणाली में परिवर्तित हो जाती है। यह व्यावहारिक सच है कि किसी भी सामाजिक ढाँचे तथा राज्य व्यवस्था के नियन्त्रण प्रणाली बनने के बीच एक अत्यन्त महीन आवरण होता है जब व्यक्ति किन्ही कारणों से व्यवस्था के इस आवरण को तोड़ता है तो वह उदण्ड कहलाता है और व्यवस्थापक या जनता का प्रतिनिधि ऐसा करता है तो वह तानाशाह बन जाता है। ज्ञात विश्व में व्यवस्था के जिन सिद्धान्तों का भी सृजन हुआ है उनकी कार्यप्रणाली कालान्तर की कसौटी पर खरी नहीं उतरती रही है। समय–समय पर जिसका परिणाम कभी व्यक्ति की उद्दण्डता के रूप में और कभी व्यवस्था संचालक की तानाशाही के रूप में आता रहा है। इसका कारण यह है कि व्यक्तिकृत व्यवस्था के सभी सिद्धान्त शक्ति केन्द्रीयकरण के आधार पर विकसित हुए हैं। दुनिया भर के व्यक्ति समुदाय पर यह शक्ति केन्द्रीयकरण के सिद्धान्त का ही दुष्प्रभाव पड़ा है कि व्यक्ति, राज्य को समाज का निर्वाहक और इसके स्वरूप

का निर्माता मान बैठा है। आधुनिक सभ्यता का यह तमाशा देखिए कि राज्य, समाज का नायक बन गया है और समाज वर्ग–संघर्ष का अखाड़ा भर बनकर रह गया है। वस्तुतः व्यवस्था के मौलिक दृष्टिकोण के अनुसार देखा जाए तो व्यक्ति की उद्दण्डता पर व्यवस्था का और राज्य के शक्ति केन्द्रीयकरण अथवा तानाशाही के ढंग पर समाज का नियन्त्रण होना चाहिए ताकि न तो व्यक्ति के सामाजिक स्वरूप का पतन हो सके और न समाज पर राज्य–सत्ता नियन्त्रण कर सके!

व्यक्तिकृत व्यवस्था का अध्ययन करते हुए इस तथ्य पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि मानव सभ्यता के विकास के घटनाक्रम में 'देश' जीवन प्रबन्ध हेतु व्यवस्था के ऐसे परिपूर्ण निकाय के रूप में स्थापित हुआ है जिसकी स्थापना में तर्क तथा भावनात्मक दृष्टिकोण दोनों ही प्रकार के विचार पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं! यद्यपि यह सच है कि एक सम्प्रभु देश का अस्तित्व समाज व्यवस्था के सामाजिक स्वरूप के विरुद्ध होता है क्योंकि समाज ऐसे किसी भी निकाय की सीमा में बंधने की विषय वस्तु नहीं होता है जिसमें समाज के सामाजिक स्वरूप के विरुद्ध शक्ति के केन्द्रीयकरण की आवश्यकता होती हो! व्यक्ति के प्राकृतिक स्वरूप तथा व्यवस्था की दशा पर विचार करें तो देश को वैश्विक समाज व्यवस्था की क्रमगत इकाई के रूप में स्वीकार किया जा सकता है लेकिन अन्तिम या सम्प्रभु इकाई के रूप में नहीं। वस्तुतः समाज के विस्तार में देश के सम्प्रभु होने का अर्थ समाज के मौलिक स्वरूप का परित्याग है। इस दशा में प्रश्न पैदा होता है कि दुनिया भर के सामाजिक परिवेश में देश एक सम्प्रभु इकाई के रूप में क्यों और कैसे स्थापित हुआ? इस विषय में यह कहना उचित होगा कि विश्व भर के अलग–अलग क्षेत्रों में मानव सभ्यता के विकास का दृष्टिकोण स्पष्ट करता है कि किसी भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले लोगों का समन्वय धर्म, जाति, क्षेत्र, संस्कृति इत्यादि विषयों के आधार पर विभिन्न व्यक्ति समुदायों ने अपनी सामुदायिक निजता की व्यापक अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए देश की व्यवस्था को सम्प्रभु बनाया है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न देशों के निर्माण तथा उत्पत्ति के कारणों पर विचार करें तो यह स्पष्ट होता है कि किसी तानाशाह या सरकार के अधिकार क्षेत्र का भू–भाग एक देश कहलाता है। आधुनिक विश्व में रूस, चीन, उत्तर कोरिया जैसे देश इसके उदाहरण हैं। दर्शन, गुणात्मक–धर्म तथा संस्कृति के समन्वय के आधार पर विश्व में प्राचीन भारत एक देश के रूप में निर्मित हुआ है। यद्यपि कालान्तर में वैश्विक सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक गतिविधियों ने भारत के सांस्कृतिक, सामाजिक तथा गुणात्मक धार्मिक स्वरूप को प्रभावित किया है लेकिन भारत का आम जनमानस अपने इस मूल स्वरूप को त्याग भी नहीं पाया है। विश्व में संगठनात्मक धर्म के आधार पर वेटिकन, सऊदी अरब, संयुक्त अरब अमीरात, पाकिस्तान, बांग्लादेश एवं अन्य भी कई देशों का निर्माण हुआ है। वस्तुतः ऐसे तमाम देशों ने समाज के सामाजिक स्वरूप को संगठनात्मक–धर्म के अत्यन्त अव्यावहारिक तथा कठोर आवरण के नीचे छुपा दिया है। यह विषय विचार करने योग्य है कि क्या मानवता कभी इस कठोर आवरण को तोड़कर स्वतन्त्र हा सकेगी! विश्व में अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा तथा अन्य कई देश पूँजीवादी लोकतान्त्रिक तानाशाही के आधार पर एक देश के रूप में निर्मित हुए हैं तो जातीय पहचान को सर्वोपरि मानने वाले लोगों ने इजराइल को एक देश के रूप में निर्मित किया है। अस्तु विश्व भर में भारत को छोड़कर अन्य कई देशों के निर्माण के ऐसे ही स्थानीय कारण रहे हैं। इस विषय की समीक्षा के आधार पर मैं भी इस आम निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि व्यक्ति देशकाल–परिस्थिति के अनुसार विभिन्न स्वतन्त्र देशों अथवा निकायों के अन्तर्गत लोगों का जीवन प्रबन्ध करता आया है किन्तु इस विषय की समीक्षा हमारे सामने बार–बार यह प्रश्न पैदा करती है कि विश्व अर्थात समाज के विस्तार में विभिन्न देशों के रूप में व्यक्तिकृत व्यवस्था का जो ढाँचा विकसित किया जाता रहा है उसमें अनेक यथार्थ विरोधी दशाएं रहती हैं, अनेक प्रश्न सूचक स्थितियां, परस्पर उलझाव तथा अतिप्रतिस्पर्धाएं रहती हैं तो अनेक ऐसे

अन्तर्राष्ट्रीय टकराव भी होते ही रहते हैं जिनसे सम्पूर्ण मानवता तो क्या प्रकृति का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। यहाँ पर यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या व्यक्ति के सामाजिक जीवन से इन विरोधाभाषी परिस्थितियों के परिष्कार का कोई उपाय नहीं हो सकता है? यह सार्वजनिक अनुभव है कि व्यक्ति की पारस्परिक मत–भिन्नता से उत्पन्न विरोधाभाष का सम्पूर्ण परिष्कार तो असम्भव है, बल्कि यह तो प्राकृतिक रूप से मानव सभ्यता के क्रमिक विकास में सहायक होता है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति मत–भिन्नता के आधार पर ही अनेक प्रकार की विषय वस्तुओं का अनुसंधान और विकास कर पाता है इसलिए इस दशा का रहना प्राकृतिक है। दूसरी ओर धर्म, जाति, क्षेत्र, भाषा जैसे विषयों का परिष्कार सम्भव है। वस्तुतः व्यक्तिकृत व्यवस्था की स्थापना के मूल कारणों में से एक विषय यह भी है कि व्यवस्था इस प्रकार निर्मित हो कि विभिन्न व्यक्तियों के बीच अनावश्यक तथा यथार्थहीन विरोधाभाष की दशाओं को पैदा करने वाले कारणों का भी उन्मूलन होता रहे। इसका उपाय यह है कि व्यक्ति को अपनी व्यवस्था का ढाँचा यथार्थ के अनुसार निर्मित करते रहना चाहिए। इसके लिए न केवल भारत की वरन विश्व भर की सामाजिक परिस्थितियों का अवलोकन करें तो समाज के लिए 'समान व्यक्ति संहिता' एक उपयुक्त विषय है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि समान व्यक्ति संहिता और समान नागरिक संहिता क्या हैं? क्या इनमें कोई भेद होता है? मूलतः व्यक्ति संहिता समाज व्यवस्था के उस प्रारूप को कहा जा सकता है जिसके आधार पर वैश्विक मानव समाज एक देश के रूप में प्रवृत्त हो सकता है और समान नागरिक संहिता किसी सीमांकित भू–भाग अथवा देश में रहने वाले जन समुदाय द्वारा अपनी सर्वांगीण व्यवस्था के लिए निर्मित वह नियम संहिता होती है जिसका क्रियान्वयन उस देश के लोगों के जीवन निर्वाह से संगठनात्मक धर्म अथवा सम्प्रदाय, जाति, क्षेत्र, भाषा, उम्र, लिंग, गरीब–अमीर, उत्पादक–उपभोक्ता, सार्वजनिक–निजी जैसे वर्ग संघर्ष के विषयों का उन्मूलन करके सर्व व्यक्ति समूह को समाज के रूप में निर्मित कर देती है। अर्थात यह सच है कि समान नागरिक संहिता किसी भी व्यक्ति अथवा संगठन के विशेषाधिकार का उन्मूलन करके व्यक्ति के मौलिक अधिकार को संरक्षित करती है। ऐसा होने का कारण यह है कि व्यक्ति, समाज की मौलिक इकाई है और सार्वजनिक व्यवस्था इसकी प्राकृतिक स्वतन्त्रता के उन्मूलन के लिए नहीं बल्कि इसे इसकी प्राप्ति के अवरोधकों के उन्मूलन के लिए निर्मित की जाती है। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि किसी भी देश की समान नागरिक संहिता, वैश्विक समाज संहिता अथवा समान व्यक्ति संहिता के निर्माण का भी मार्ग प्रशस्त करती है। क्योंकि किसी देश तथा विश्व में व्यक्ति की मौलिक स्वतन्त्रता का निर्बाध प्रसार ही व्यवस्था का सर्वोच्च प्रतिमान हो सकता है।

प्रस्तुत विमर्श हमारे सामने यह प्रश्न भी पैदा करता है कि क्या व्यक्ति तथा नागरिक में कोई अन्तर होता है? इस प्रश्न का स्पष्टीकरण यह है कि व्यक्ति तथा नागरिक एक ही अस्तित्व के दो रूप होते हैं। उपरोक्त किए गए विवेचना क्रम के अनुसार व्यक्ति अपने जीवन के सामाजिक रूप का प्रतिनिधित्व करता है और नागरिक के स्वरूप को संवैधानिक व्यवस्था निर्धारित करती है। व्यक्ति तथा नागरिक का वास्तविक स्वरूप इस तथ्य के द्वारा समझा जा सकता है कि व्यक्ति का व्यक्तिगत आचरण उसकी असीम स्वतन्त्रता है और इसका व्यवस्था के अनुसार किया जाने वाला व्यवहार इसे नागरिक सिद्ध करता है। व्यक्ति जब एक से अधिक संख्या में होता है तो यह स्वयं पर स्वतः ही अनेक प्रकार के व्यवस्था प्रावधानों को स्वीकार लेता है। वस्तुतः यह व्यक्ति पर नियन्त्रण का कोई प्रकार नहीं होता है बल्कि ऐसा तो जीवन–क्रम की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु होता है। इसलिए जब व्यक्ति किसी देश की व्यवस्था के अनुसार उसकी नागरिकता ग्रहण करता है तो न उसकी सामाजिक मान्यता समाप्त होती है और न मौलिक अधिकार। समाज के परिवेश में व्यक्ति की व्यक्तिगत, सामूहिक तथा संवैधानिक भूमिका परिस्थिति अनुसार साथ–साथ चलती

रहती है। वस्तुतः यह सामाजिक ताना–बाना बहुत जटिल भी है और साफ सुथरा भी। व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है इसलिए यह परिवार, रिश्ते, जीविका तथा अन्य सामाजिक सरोकार निभाकर अपना सामाजिक स्वरूप व्यक्त करता है तो दूसरी ओर यह आवश्यकतानुसार एक नागरिक के रूप में राज्य व्यवस्था के ताने–बाने का पालन भी करता है। यही दशा व्यक्ति तथा नागरिक के बीच का अन्तर भी तय करती है। इस विमर्श में मैं यह तथ्य दोहरा रहा हूँ कि व्यक्ति को व्यक्तिगत विषयों में निर्णय करने की असीम स्वतन्त्रता होती है लेकिन वह सामुदायिक विषय में ऐसा नहीं कर सकता है। व्यक्तिगत विषयों में सार्वजनिक हस्तक्षेप तथा सामूहिक विषयों में व्यक्ति की व्यक्तिगत धारणाओं का प्रभाव सार्वजनिक तथा निजी व्यवस्थाओं को ध्वस्त कर देता है। यह विषय इस तथ्य के द्वारा और भी स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति स्वेच्छा से किसी देश की नागरिकता स्वीकार करने या छोड़ने के लिए स्वतन्त्र होता है लेकिन सामूहिक विषयों में यह समूह का निर्णय मानने के लिए बाध्य होता है। अर्थात व्यक्ति पैतृक देश को छोड़कर किसी अन्य देश की नागरिकता मांगने के लिए स्वतन्त्र हो सकता है किन्तु वह देश उसे नागरिकता देने या न देने के लिए स्वतन्त्र होता है। इस विवेचना में इस सार्वभौमिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करना भी उचित रहेगा कि किसी देश की नागरिकता के अभाव में कोई भी व्यवस्था तब तक व्यक्ति के सामाजिक स्वरूप का उन्मूलन नहीं कर सकती जब तक व्यक्ति ने किसी अन्य के मूल अधिकार का उलंघन न किया हो!

इस विषय में एक दृष्टिकोण यह भी है कि भारत में जब भी समान नागरिक संहिता बनाने के विषय में चर्चा होती है तो एक ओर अनेक लोग इसके निर्माण के विरोधी होते हैं तो दूसरी ओर समान आचार संहिता के विषय पर अनायास ही बहस छिड़ जाती है। वस्तुतः यह प्रकरण विचार करने योग्य है कि भारत में समान नागरिक संहिता के निर्माण का विरोध क्यों होता है तथा इसमें तथा समान आचार संहिता में क्या भेद होता है? किसी नागरिक संहिता के व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य का विश्लेषण करं तो एक लोकतान्त्रिक देश में लोगों के लिए व्यवस्था का समरूप दृष्टिकोण व्यक्त करने के लिए समान नागरिक संहिता, व्यवस्था संहिता का सर्वाधिक उपयुक्त भाग होता है और यहाँ तक कि व्यवस्था संहिता का यह भाग इसके अन्य उपबन्धों का स्वरूप तय करने का मार्ग प्रशस्त करता है। भारत में समान नागरिक संहिता जैसे व्यवस्था के सर्वाधिक उपयुक्त प्रकरण का विरोध समाज में वर्ग संघर्ष की दशाओं को उत्पन्न करने वाले विषयों के आधार पर किया जाता है। दुनिया के अनेक लोकतान्त्रिक देशों में ऐसा होता है कि वहाँ धर्म, जाति एवं भाषा जैसे वैचारिक आधार पर बहुसंख्यक वर्ग के लोग किसी समान नागरिक संहिता का निर्माण नहीं चाहते हैं और ऐसे ही वैचारिक आधार के अल्पसंख्यक वर्ग के लोग एक उपयुक्त समान नागरिक संहिता का निर्माण आवश्यक रूप से चाहते हैं लेकिन आश्चर्य यह है कि भारत मे इस समीकरण का स्वरूप उलटा है। यहाँ धार्मिक अल्पसंख्यक, जातीय आरक्षण, जातीय श्रेष्ठता जैसे अनावश्यक विषयों को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानने वाले लोग समान नागरिक संहिता जैसी व्यवस्था के निर्माण का विरोध करते हैं। क्योंकि तब इनके तथाकथित धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक विशेषाधिकार समाप्त हो जाएगें। मेरे विचार से भारत के आम–जनमानस को इस विषय पर निःस्वार्थ भाव से विचार करना चाहिए कि क्या भारत में समान नागरिक संहिता का निर्माण अनुचित हो सकता है?

इस विषय के विरोध का दूसरा कारण समान आचार संहिता है। भारत के जनमानस के बीच इस विरोधाभाष के होने का यह कारण है कि समान नागरिक संहिता शब्द का विवरण भारत के संविधान (अनुच्छेद–44) में निहित है, जबकि समान आचार संहिता के विषय में ऐसा समझा जाता है कि इस शब्द के द्वारा भारतीय जनमानस का सामाजिक नरतत्व दक्षिणपन्थी विचारधारा के आधार पर तय करने का प्रयास है। भारत के अनेक लोग समान आचार संहिता को राष्ट्रीय

स्वयंसेवक संघ का एजेंडा भी मानते हैं। इस विषय में मेरे द्वारा किए गए अध्ययन का यह निष्कर्ष है कि इस विषय में लोगों की यह गलत अवधारणा है। हमे इस विषय को समझने के लिए समान आचार संहिता के व्यावहारिक तात्पर्य को समझना चाहिए। वस्तुतः कोई व्यक्ति तथा परिवार अपने लिए कोई ऐसी आचार संहिता बना सकता है जो किसी अन्य की सीमा में हस्तक्षेप न करती हो, कोई गांव या देश अर्थात इनमें रहने वाला व्यक्ति समुदाय अपने लिए ऐसी नियम संहिता बनाकर उसे आचरण संहिता का नाम दे सकता है जिसके अनुसार आचरण किए जाने पर सम्बन्धित परिवेश से वर्ग संघर्ष को जन्म देने वाले विषय जैसे संगठनात्मक–धर्म अर्थात सम्प्रदाय, जाति, क्षेत्र, भाषा, उम्र, लिंग, गरीब–अमीर, उत्पादक–उपभोक्ता तथा निजी–सार्वजनिक (राज्य) का उन्मूलन हो जाता है। किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय का प्रवर्तक अपने वैचारिक अनुयाईयों के लिए, किसी जाति के नियामक अपनी जातीय संस्कृति के अनुसार जीवन निर्वाह करने वाले लोगों के लिए तथा किसी देश की सरकार या उसका तानाशाह अपने वैचारिक तथा अधिनियमित वर्चस्व के आधार पर जीवन निर्वाह करने वाले लोगों के लिए एक आचार संहिता बनाते ही हैं। वस्तुतः कोई नियम संहिता जिसे हम नागरिक संहिता के नाम से अधिनियमित करें या आचार संहिता के नाम से अधिनियमित करें, यदि इनके आधार पर निर्मित व्यवस्था व्यक्ति तथा समाज के स्वरूप को उसके मौलिक सामाजिक गुण–धर्म के विरुद्ध किसी वर्ग के रूप में निर्मित करती है या काल–वाह्य व्यवस्था को ही सर्वोचित मानती है तो व्यवस्था का प्रारूप सर्वथा गलत होता है। यहाँ पर इस दृष्टिकोण का उल्लेख कर देना भी उचित है कि दुनिया भर की धर्म, जाति तथा क्षेत्र के आधार पर विकसित सभ्यताएं अपने अनुयाईयों के लिए ऐसी ही नियम संहिता बनाती रही हैं। इनके निर्माताओं ने इन्हें सम्पूर्ण व्यवस्था भी कहा है और इन्हें अपरिवर्तनीय भी घोषित किया है, इस्लाम का धार्मिक ग्रंथ कुरान, व्यवस्था के इस स्वरूप का सर्वाधिक उपयुक्त उदाहरण है। दुनिया भर में व्यक्तिकृत व्यवस्था में यह दोष पाया जाता है कि इनके व्यवस्था प्रावधानों तथा इनके शीर्षक के भावार्थ में गम्भीर अन्तर्विरोध होते हैं। हमे अपनी व्यवस्था को बनाते समय इसके प्रावधान इस प्रकार निर्मित करने चाहिए जो विषय–वस्तु को सामाजिक परिप्रेक्ष्य का विरोधी न बना सके। वस्तुतः इस सम्पूर्ण विमर्श का तात्पर्य यह है कि यदि हमारी व्यवस्था संहिता का परिप्रेक्ष्य समाज के सामाजिक स्वरूप के अनुकूल है तो व्यवस्था के क्रियान्वयन के परिणाम समाज के अनुकूल आएंगे और यदि व्यवस्था के प्रावधान व्यक्तिवाद एवं संगठनवाद को मानक मानकर निर्धारित किए जाते हैं तो क्रियान्वयन के परिणाम समाज के विरुद्ध ही आएंगे! मेरे विचार से यदि भारत का सर्व व्यक्ति समुदाय अपने लिए एक समान आचरण संहिता का निर्माण करता है तो यह कहना बिल्कुल निरर्थक होगा कि तब आम भारतीय दक्षिणपन्थी या हिन्दू राष्ट्रवादी बन जाएगा। सच में तो यह अनर्गल प्रलाप है क्योंकि लोग तब वैसा ही आचरण कर पाएंगे जैसा कि उनके द्वारा निर्मित व्यवस्था उन्हें करने देने का मार्ग प्रशस्त करेगी! इसलिए भारत के लोगों को खुद को इस दुविधा से उबारना चाहिए। वस्तुतः इस विमर्श का यह निष्कर्ष है कि यह अनावश्यक विषय भारत के लोगों के लिए एक सर्वोचित व्यक्ति संहिता के निर्माण में बाधा उत्पन्न करने का जरिया भर है। यदि हम इस विषय को भाषायी दृष्टिकोण से देखें तो किसी भी देश के लोगों के लिए बनायी जाने वाली एकरूप व्यवस्था का उपयुक्त नाम व्यक्ति संहिता या नागरिक संहिता ही होता ह। इस विषय में आचरण संहिता शब्द व्यक्ति की सोच को एक अलग ही मार्ग पर ले जाता है। अक्सर आचरण संहिता शब्द के आधार पर निर्मित व्यवस्था को समाज के सन्तुलित जीवन निर्वाह का जरिया न मानकर इसके आदर्श मानक के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। पूर्व काल की धर्म तथा जाति व्यवस्था यह साबित भी करती रही हैं कि अनेक बार ऐसी व्यवस्था आचरण की बाध्यता बन जाती है। इसलिए उपयुक्त यही है कि प्रत्येक भारतीय को अपने देश की एक ऐसी समान नागरिक संहिता के निर्माण के प्रति

उत्तरदायी होना चाहिए जो सर्वथा समाज के प्रति उत्तरदायी हो। इस मद्दे में श्रेष्ठता के भाव से ग्रसित रहने वाले तथा केवल निहित स्वार्थों की पूर्ति के प्रयास में लगे रहने वाले लोगों को वर्ग तुष्टीकरण के मानसिक भाव से मुक्त होकर यह सोचना चाहिए कि व्यवस्था सदैव समाज के ढाँचे को यथार्थपरक बनाने में सहायक होनी चाहिए अन्यथा काल–वाह्य व्यवस्था समाज के पतन का कारण बन जाती है। मेरे विचार से आम भारतीय को समान नागरिक संहिता तथा समान आचार संहिता के बीच अनावश्यक वैचारिक टकराव से बचना चाहिए। इस विरोधाभाष के दुष्प्रभाव को इस उदाहरण के द्वारा भली–भांति समझा जा सकता है कि यदि पाकिस्तान और बांग्लादेश जैसे लोकतान्त्रिक देश इस्लामिक राष्ट्र रहते हुए अपने लिए एक समान नागरिक संहिता का निर्माण कर भी लेते हैं तो भला यह देश अथवा इनमें रहने वाला बहुसंख्यक मुस्लिम समुदाय अपने धार्मिक विशेषाधिकार से कैसे मुक्त होकर रह सकता है तथा ऐसे देश में धार्मिक अल्पसंख्यकों को धार्मिक प्रताड़ना से कैसे बचाया जा सकता है? इसका कारण यह है कि धार्मिक उन्माद के अभाव में किसी देश को सामाजिक देश बनाया ही नहीं जा सकता है क्योंकि साम्प्रदायिक उन्मादी व्यक्ति से शांति और सहजीवन की अपेक्षा बेमानी है। वस्तुतः समान नागरिक संहिता किसी व्यक्ति या व्यक्ति समुदाय के विशेषाधिकार का उन्मूलन किए बिना स्थापित नहीं हो सकती है और कोई भी आचार संहिता केवल तभी समाज की कसौटी पर खरी उतर सकती है जब वह वर्ग संघर्ष के विषयों का परित्याग करके समाज के प्रति उत्तरदायी हो। इस वैचारिक उलझाव से बचने का उपयुक्त मार्ग समान नागरिक संहिता ही है। एक ओर भारत के लोगों को वर्गीकृत ढकोसलों तथा काल–वाह्य हो चुकी सामाजिक व्यवस्था का परित्याग करके एक सार्वदेशिक नरतत्व प्रस्तुत करने वाली नागरिक संहिता के निर्माण का प्राण–प्रण से प्रयास करना चाहिए ता दूसरी ओर ऐसा प्रयास वैश्विक मानव समुदाय के परिप्रेक्ष्य को एक व्यक्ति संहिता के अनुसार एक समाज के रूप में निर्मित करने के लिए भी होना ही चाहिए।

नरेन्द्र रघुनाथ सिंह
गांव + पोस्ट – बनबोई,
जिला – बुलन्दशहर, उ0प्र0
पिन कोड – 203408
मोबाईल नं0 – 9012432074
ई–मेल – jeevanpath111@gmail.com